HISTORY OF SANSKRIT LITERATURE

(IN HINDI)

VOLUME I.

DRAMA AND POETRY

BY

VEDA VYASA, M. A.,

Hansraj Scholar of Indian History,

D. A.-V. College, Lahore.

WITH A FOREWORD

BY

A. C. WOOLNER, M. A., C. I. E.,

Dean of University Instruction

AND

Principal Oriental College, Lahore.

1926.

FIRST EDITION.

1,000 COPIES.

PRINTED AT
THE HINDI PRESS, LAHORE.
PUBLISHED BY
THE RESEARCH DEPARTMENT, D A.-V. COLLEGE, LAHORE.

* ओ३म् *

संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्रथम भाग

नाटक और काव्य

लेखक

वेदव्यास, एम. ए.,

रिसर्च स्कालर, श्रीमद्दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज लाहौर ।

दयानन्द कालिज अनुसन्धान विभाग द्वारा प्रकाशित ।

प्रथम संस्करण १००० प्रति

श्रीमद्दयानन्द कालेज रिसर्च विभाग की ओर से प्रकाशित हुआ
और
'हिन्दी प्रेस' रेलवेरोड, लाहौर में छपा ।

समर्पण

गुरुवर श्री ए० सी० वुलनर, एम. ए., सी. आई. ई. के कर-

कमलों में, जिन के चरणों में बैठ कर मुझे इस विषय

के अनुशीलन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ,

यह पुस्तक एक विनीत शिष्य की पत्र-

पुष्पोपम भेंट के तौर पर सादर

और सस्नेह समर्पित

की जाती

है।

FOREWORD.

Sanskrit Literature is a treasury that is inexhaustible. It is a treasury where every body's share is just as great as he chooses to make it. To dip into this wealth, to know something of its choicest gems and something of their history should be a duty and a joy to every Indian reader.

This attractive little guide to Drama and Poetry should interest many that have but little Sanskrit and many to whom English is still a foreign tongue. Free from any unnecessary display of erudition this book is based on the results of critical study and modern research. I hope the Author, my old pupil, Mr. Veda Vyasa will complete his design with other volumes in the same style.

A. C. WOOLNER.

निवेदन

संस्कृत-साहित्य के वर्णनात्मक इतिहास की बहुत दिनों से आवश्यकता थी। प्रस्तुत पुस्तक इसी आवश्यकता को यथाशक्ति पूर्ण करने के प्रयास का उपक्रममात्र है। गत १२५ वर्षों में प्राच्यभाषाकोविदों के विस्तीर्ण अन्वेषणों के फलस्वरूप में हमें संस्कृत-साहित्य की विस्मयावह सम्पत्ति उपलब्ध हुई है जिस में अनेक उत्कृष्ट गुण भरे पड़े हैं। उस का अनुशीलन हृदय को मुग्ध करने वाला है। इस पुस्तक का उद्देश्य हिन्दी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत विषय पर आधुनिक विद्वानों के अन्वेषणों के सारांश के साथ साथ इस बृहत् साहित्य के एक अंश—संस्कृत नाटक और काव्य—के वर्णनात्मक पर्यवेक्षण को रखना है।

यह निबन्ध प्रधानतया वर्णनात्मक है और सर्व-साधारण के उपयोग की दृष्टि से लिखा गया है। उस में सभी महत्त्वपूर्ण रचनाओं और उपपत्तियों का निर्देश भी किया गया है। मैं ने जान बूझ कर उन सम्भ्रमात्मक विवादों को छोड़ दिया है जो प्राच्य साहित्य के क्षितिज को आज आछन्न किए हुए हैं। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवादों की भी विशेष दलीलें ही दे कर मैंने सन्तोष किया है और कई स्थलों पर अनेकों ऐसे तर्क-प्रपञ्चों और व्युत्पन्न विवादों को निःसंकोच छोड़ दिया है जो विशेषज्ञ

के लिए बहुत उपयोगी हैं किन्तु सर्व-साधारण के लिए रोचक नहीं हैं। न निर्देशों और परिशिष्टों से ही मैं ने उसे भाराक्रान्त किया है।

इस पुस्तक के तय्यार करने में मैंने प्रस्तुत-विषय-सम्बन्धी अंग्रेजी ग्रन्थों और सामयिक अन्वेषण-पत्रों से स्वच्छन्दता-पूर्वक सहायता ली है। विशेष रचनाओं की नामसूची, जिन का यहाँ प्रयोग किया गया है, इस पुस्तक के अन्त में दी जाती है—यद्यपि यह सूची किसी तरह पूर्ण नहीं कही जा सकती।

मैं समझता हूँ कि वस्तुतः इस ढँग का यह पहिला उद्योग है और मैं उस की अनेक न्यूनताओं से भी अनभिज्ञ नहीं हूँ। सहृदय मित्रों से इस विषय पर परामर्श देने का आमन्त्रण किया जाता है और उन्हें इस बात का विश्वास दिया जाता है कि अवशिष्ट भागों में उन के परामर्शों को संनिविष्ट किया जावेगा।

अन्त में मैं सहर्ष पं० बलदेवप्रसाद नौटियाल बी. ए. की अमूल्य सहकारिता को स्वीकार करता हूँ, इस पुस्तक के तय्यार करने और प्रकाशन में जिन की सहायता के विना हमारे इस प्रयास का इस वर्ष फलीभूत होना सम्भव नहीं था।

वेद व्यास

विषयसूची

संस्कृत काव्य

संस्कृत नाटक

संस्कृत नाटक

संस्कृत नाटक की उत्पत्ति

संस्कृत नाटक का, पाश्चात्य प्रभाव से स्वतन्त्र, सुसम्पन्न और बहुविध विकास हुआ है और उस से हिन्दुओं की सामाजिक रीति रस्मों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है परन्तु संस्कृत नाटक की उत्पत्ति के विषय में हम निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते। भारतीय साहित्य में यह एक विलक्षण विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर होती है कि यहाँ प्रत्येक वस्तु प्रौढावस्था में पाई जाती है। उस के शैशव को हम नहीं देख सकते। कवि और नाटककार पीछे से जन्म लेते हैं, काव्य-कला और नाट्य-शास्त्र की सृष्टि पहिले ही हो जाती है! जितने भी उपलब्ध नाटककार हैं, नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि उन सब से प्राचीनतर प्रतीत होते हैं। फलतः संस्कृत नाटक की उत्पत्ति और प्राचीनता का पता लगाने के लिये हमें प्राचीन साहित्य के बिखरे हुए और विरल उल्लेखों को किसी तरह एक सूत्र में गाँठना पड़ता है। इस प्रकार यह समस्या भारतीय पुरातत्त्व-क्षेत्र की अत्यन्त सम्भ्रमात्मक समस्याओं में से है।

वैदिक साहित्य में नाटक के बीज।

१. परम्परा—भरत के नाट्य-शास्त्र में जो भारतीय श्रुति-परम्परा मिलती है उस के अनुसार नाटक पांचवाँ वेद माना

गया है। यह नाट्य-वेद देवताओं के नेत्रों की तृप्ति के लिये ब्रह्मा की इच्छा से उत्पन्न हुआ था और उस में नृत्य ऋग्वेद से, संगीत सामवेद से, नाट्य यजुर्वेद से और रस और भाव अथर्ववेद से लिये गए थे। इस नए मनोविनोद में शूद्र भी भाग ले सकते थे। शिव ने उस में ताण्डव नृत्य और पार्वती ने लास्य नृत्य प्रदान किया और विष्णु ने चार नाटकीय शैलियों का आविष्कार किया। इस कला को प्रयोग में लाने का काम भरत मुनि को सौंपा गया।

२. वैदिक 'सम्वाद'—ऋग्वेद में सम्वाद के रूप में कई (कम से कम पन्द्रह) सूक्त हैं, जैसे यमयमीसूक्त, पुरूरवा और उर्वशी का सम्वाद, सरमा और पणिस् की वार्तालाप इत्यादि। कर्म-काण्ड परम्परा इन सम्वादों की संगति लगाने में सर्वथा असमर्थ है। उत्तरवर्ती वैदिक काल में तो यह निबन्ध-शैली ही लुप्त हो गई। इन का मूल उद्देश्य तो परि-स्फुट नहीं किन्तु इस विषय में सब से पहिले मैक्स मूलर ने यह हृदयङ्गम विचार उपस्थित किया था कि ऋग्वेद के समय में धार्मिक नाटकीय दृश्य विदित थे। इसी विचार की प्रोफैसर लेवि ने (Levi) खूब पुष्टि की। नृत्य और संगीत भी वैदिक युग में विदित थे। इस कल्पना-वाद का तार्किक फल श्रेडर (Schroeder) की कष्ट-साध्य उपपत्ति में दीख पड़ता है। इस उपपत्ति के अनुसार ये साम्वादिक सूक्त वैदिक रहस्यों (mysteries) के अवशेष हैं जो इन्डोयोरोपियन समय से चली आती हैं देवता भी नृत्य में भाग लेते थे। यह कर्म-काण्डात्मक नाटक कालान्तर में विलुप्त हो गया

और वहीं पर उसका विकास-क्रम भी रुक गया। इस उपर्युक्त मत को डाक्टर हर्टल (Hertel) ने स्वतन्त्र रीति से और कुछ हेर फेर के साथ स्थापित किया है। हर्टल के मतानुसार वैदिक ऋचाएं सदा गाई जाती थीं। भिन्न भिन्न उक्तियों को गाने के लिये भिन्न गवैये होते थे और इस लिए ये सम्वाद नाटकीय कला के आरम्भ के प्रदर्शक हैं, जिन के विकास-क्रम का गीतगोविन्द से साम्य किया जा सकता है। उन्होंने तो यहां तक ढूंढ़ निकालने का प्रयास किया है कि सुपर्णाध्याय जो कि एक विचित्र उत्तरकालीन वैदिक संन्दर्भ है विस्तृत परिमाण में वास्तविक नाटक है। उन्होंने यह दिखाने की भी चेष्टा की है कि उत्तरकालीन यात्राएं इसी पुराने आदर्श के अनुबन्ध मात्र हैं।

यद्यपि इन उपर्युक्त उपपत्तियों में वैदिक सम्वादों के सम्बन्ध में कोई बात असम्भव नहीं है तथापि उन के समर्थन के लिये जो प्रमाण दिया गया है वह हमें इस प्रकार के विवर्ण को ग्रहण करने के लिये विवश नहीं करता। जो लोग यह समझते हैं कि ऋग्वेद में सिवाय कर्म-काण्डविषयक बातों के और कुछ नहीं है और इस लिए इन सूक्तों की भी कर्मकाण्डात्मक व्याख्या होनी चाहिए, उन के मत को पुष्ट करने वाली प्रायः एक भी युक्तियुक्त बात नहीं है। जैसा कीथ (Keith) ने बतलाया है, प्रकरण का विचार न कर स्वतन्त्र रीति से सूक्तों को विशद करने के लिए कपोलकल्पित उपपत्तियों की सृष्टि करना युक्ति-संगत नहीं है। इस से अलङ्घ्य कठिनाइयों का उपस्थित हो जाना अनिवार्य है।

ऋग्वेद की ऋचाएं गाई नहीं जाती थीं किन्तु उच्चारी जाती थी। सुपर्णाध्याय में सुसम्पन्न नाटक को देखने का हर्टल ने जो महान् प्रयास किया है वह विफल ही समझना चाहिए। वैदिक नाटक किस प्रकार विनष्ट हो गया यह बतलाना भी सरल नहीं है; केवल यह कह देना पर्याप्त नहीं कि पुरोहितों की अस्वीकृती के निरुत्साहोत्पादक प्रभाव के कारण वह विलुप्त हो गया।

एक बिल्कुल भिन्न उपपत्ति (विंडिश्च, ओल्डनबर्ग, पिश्चेल के मतानुसार) यह बतलाई जाती है कि ये 'सम्वाद' वीरकाव्य की श्रेणी की एक पुरानी पद्धति के प्रदर्शक हैं—जो प्राचीनता में इन्डोयोरोपियन है—जिसमें अत्यन्त उदग्र मनोभावों के प्रसंगों को पद्यात्मकरूप दिया जाता था, और उन को सम्बद्ध करने वाली शृङ्खला गद्य में होती थीं। यह गद्य अविकासशील नहीं था और इस समय उपलब्ध नहीं है। यह उपपत्ति इस मत से मिलाई जा सकती है कि ये साम्वादिक सूक्त नाटक-विषयक थे और संस्कृत नाटक में गद्य पद्य का संमिश्रण साहित्य के इसी पूर्वकालीन रचना-विन्यास का अवशेष स्वरूप है। किन्तु इस मतमें वास्तविक अड़चन यह है कि उक्त सूक्तों की इस विशेषता के ज्ञान का हमें परम्परा में कोई चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता। पाली जातको में ऐसे चिन्ह मिलते हों, इस से हमारे मत में कोई विच्छित्ति नहीं आती। निःसन्देह उक्त उपपत्ति के द्वारा वैदिक संकथाएं जिस प्रभावोत्पादक रीति और सरलता के साथ समझाई जा सकती है वह इस कल्पना के सामर्थ्य के बाहर है कि ये सम्वाद कर्मकाण्डात्मक नाटक के अवशेषमात्र हैं । प्रोफैसर

गेल्नर (Geldner) ने इन विवादास्पद संवादों को गीति-काव्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

३. **वैदिक कर्मकाण्ड में नाटक के बीज**–वैदिक कर्मकाण्ड के अन्तर्गत नाटक का सूक्ष्म बीज निहित है। सोम-क्रय के वर्णन में कुछ नाटकीय तत्त्व विद्यमान हैं किन्तु उन में नाटक तक पहुंचने की क्षमता नहीं है। महाव्रात में एक पुरातन नाटकात्मक कर्मविधान मिलता है जो वैदिक युग में जन-प्रिय था। हिलरब्रैंड (Hillerbrandt) और कोनो (Sten konow) इसी से परितुष्ट हैं कि हमारे समक्ष एक वास्तविक कर्मकाण्डात्मक नाटक मौजूद है। किन्तु यह बात अत्यन्त साभिप्राय है कि प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में नट को स्थान नहीं दिया गया है। सामवेद के गीत और कर्मकाण्डात्मक नृत्य अन्य अवयव हैं जो नाटक में सन्निविष्ट होते हैं। भारतीय रंगशाला के इतिहास में आरम्भ से ही नृत्य का नाटक के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस प्रकार वैदिक नृत्य में हम इस की उत्पत्ति को देख सकते हैं। मूक नृत्यात्मक हाव के साथ गीतों का भी उस में समावेश था और कालान्तर में सम्वादों के द्वारा उस को और भी समृद्ध किया गया। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि वैदिक युग में नाटक की उत्पत्ति हुई। किन्तु इन आवश्यक अवयवों का सारभूत संकलन और कथावस्तु का विकास, जिन से वास्तविक नाटक का निर्माण होता है, भविष्य में होने वाले थे। सम्भवत: वीरकाव्यों के संकीर्तन-प्रयोग से नाटक की गुप्त संभाव्यताएँ दृष्टिगोचर हुई हों और इस तरह उस को साहित्यिक रूप दिया गया हो। नाटक में

ऐसे पद्यों की संख्या अत्यल्प होती है जो गाए जाते हैं, संकीर्तनात्मक पद्य ही अत्यधिक परिमाण में होते हैं—यह बात भी उक्त विचार की पोषक है।

वैदिक युग के पश्चात् का साहित्य और नाटक की उत्पत्ति

१. वीरकाव्य—महाभारत के पूर्वकालीन अंशों में कहीं भी स्पष्ट शब्दों में नाटक की सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। सम्भव है कोई संशयास्पद उल्लेख हों। केवल हरिवंश में स्पष्ट उल्लेख है किन्तु उस के समय का कोई निश्चय नहीं। नट और नाटक के विषय में हम रामायण में सुनते हैं किन्तु जिन स्थलों में इनका उल्लेख है उन की प्राचीनता और उन के अभिप्राय पर सन्देह किया जाता है।

पक्षान्तर में, इस बात का काफ़ी सबूत मौजूद है कि वीरकाव्यों के संकीर्तन का नाटक के विकास पर प्रभाव पड़ा है। ये संकीर्तन आरम्भ से ही जनप्रिय रहे हैं, यहाँ तक कि कम्बोडिया के सुदूरवर्ती हिन्दू उपनिवेश के मन्दिरों में भी सातवीं शताब्दी में ये संकीर्तन होते थे। सांची की एक प्रतिच्छाया में कथकों का एक आलेख्य मिलता है जिस से मालूम होता है कि इन संकीर्तनों के साथ साथ कुछ संगीत, नृत्य और हावाभिनय भी होता है। भरत शब्द—नाट्यशास्त्रकार का नाम—आधुनिक भाट, निःसन्देह इस बात का प्रमाण है कि

नाटक के विकास के साथ प्रहसन आदि असंगत कविता का सम्बन्ध रहा होगा।

२. वैयाकरण—पाणिनि ने नटसूत्रों का उल्लेख किया है किन्तु उस प्रकरण में नट शब्द के अर्थ का कोई निश्चय नहीं है। पातञ्जलि (सन् ईस्वी के १५० वर्ष पूर्व) के महाभाष्य में प्रबल प्रमाण मिलता है जिसको नाटकीय अभिनय के सम्बन्ध में सन्तोष के साथ समझा सकते हैं। यहाँ कंसवध और बलिबन्ध का उल्लेख आया है। प्रोफैसर ल्युडर्स (Luders) आदि ने इन को और तरह से समझाने की चेष्टा की है किन्तु उन के विवर्ण सन्तोषप्रद नहीं हैं। पतञ्जलि के समय में नाटक की सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान थी और प्रारम्भिक स्वरूप में उस की सत्ता का मानना अनुचित नहीं।

३. धर्म और नाटक—(१) कृष्ण-सम्बन्धी कथाओं का जो उल्लेख है उस से मालूम होता है कि आदिम नाटक धार्मिक थे। (२) महाव्रात विधि में एक ब्राह्मण चरित्र आता है जिसकी तुलना परिहासशील विदूषक से की जा सकती है। (३) जन्माष्टमी के महोत्सव के दृश्यों की लोकप्रियता और संस्कृत नाटक के ह्रास के बाद भी कृष्ण-यात्राओं की विद्यमानता से भी यही सिद्ध होता है कि नाटक का धर्म के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। (४) साधारण तौर पर गद्य की भाषा शौरसेनी प्राकृत है जो मथुरा में और उसके आस पास बोली जाती थी। (५) नाटक की उत्पत्ति के विषय में जो इन्द्रविजयसम्बन्धी

भारतीय कथानक है वह भी देवताओं के आराधन के साथ नाटक का साहचर्य कराता है। (६) कालान्तर में शिवपूजा से भी नाटक की कुछ सामग्री प्राप्त हुई। (७) नाटक में राम का पार्ट कृष्ण से कुछ कम नहीं है क्योंकि रामलीला और रामायण के संकीर्तन सदा से बहुत लोकप्रिय रहे हैं। (८) नाटक का धार्मिक महत्व बौद्ध लोगों की धारणा से स्पष्ट प्रकट होता है जिन्होंने पहिले तो इस प्रकार के मनोविनोद पर आक्षेप किया और बाद को धर्म के प्रचार के लिए उसे ग्रहण कर लिया।

इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि धर्म से ही नाटकीय रचना में निश्चित रूप से प्रवृत्ति हुई है। संस्कृत नाटक का आविर्भाव सम्भवतः सन् ईस्वी के दो सौ वर्ष पूर्व हुआ और उस के उत्पत्ति-निमित्त वीरकाव्य-संकीर्तन और कृष्णसम्बन्धी कथा—जिसमें एक नववयस्क देव शत्रुओं के साथ युद्ध करता है और उनपर विजय प्राप्त करता है—हैं।

प्राकृत में नाटक की उत्पत्ति

प्रोफैसर लेविका मत है कि पहिले पहल प्राकृत में ही नाटक की उत्पत्ति हुई है; संस्कृत का प्रयोग बाद को किया गया। नाट्यशास्त्र में किन्हीं विलक्षण पारिभाषिक शब्दों की प्राकृत से उत्पत्ति होना सम्भव है किन्तु उनका कोई विशेष महत्व नहीं है। उपकलाओं से ये शब्द लिये गए होंगे। जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि नाटक ब्राह्मण-सम्मत कृष्ण-सम्प्रदाय पर अवलम्बित था तो यह नहीं कह सकते कि संस्कृत भाषा का नाटक में प्रयोग ही नहीं होता था। अश्वघोष के जो नाटक मिले

हैं उन से यह बात और भी स्पष्ट हो गई है। वह जिस मत का प्रतिपादक था, उस में संस्कृत के बदले प्रचलित प्राकृत भाषाओं को प्राधान्य दिया गया था। ऐसी अवस्था में ऐसे नाटकों की जिन का उद्देश्य बौद्ध धर्म की पुष्टि करना था, संस्कृत में रचना विडम्बनामात्र होती, यदि तत्कालीन नाटकों में संस्कृत भाषा का प्रयोग परम्परा-सम्मत और सुदृढ रूप में न होता। फलतः यह मानना पड़ेगा कि नाटक की रचना पहिले ही से कम से कम अंशतः संस्कृत भाषा में होती थी। पतञ्जलि ने महाभाष्य में जिन नाटकीय अनुवाचनों का उल्लेख किया है उन से संस्कृत का परम्परा सम्बन्ध है।

रिजवे—डाक्टर रिजवे का सिद्धांत है कि परेतात्माओं के प्रति जो पूजाभाव है वही सारे संसार में नाटक की उत्पत्ति का कारण है। इसी सिद्धांत को उन्हों ने भारतीय नाटक के विषय में भी चरितार्थ करना चाहा। उनका कहना है कि राम, कृष्ण और शिव भी किसी समय मनुष्य थे—यह सर्वसाधारण का विश्वास है। किन्तु यह कल्पना सर्वथा असंगत है कि इन देवताओं को कभी भी उन लौकिक मृत पुरुषों में माना गया है जिन के लिये परेत-क्रिया आवश्यक है।

४. नाटक की प्रवृत्तिमार्गीय उत्पत्ति-विषयक उपपत्तियां

प्रोफैसर हिलब्रैंड और कौनो इस में सहमत हैं कि 'भाट' संस्कृत नाटक का मूल कारण है, यद्यपि उस के विकास में धर्म का भी कुछ भाग है। जन-साधारण से नाटक की उत्पत्ति हुई। इस बात की पुष्टि के लिए निम्नलिखित प्रमाण दिए जाते हैं—

(१) प्राकृत भाषाओं का प्रयोग, (२) परिहासशील विदूषक का चरित्र, (३) भारतीय रंगशाला की सादगी, इत्यादि। इस में सन्देह नहीं कि नाटक में कुछ बातें ऐसी भी हैं जो सर्व-साधारण के अनुकूल हैं किन्तु इतना ही कह देने से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि सर्वसाधारण से नाटक की उत्पत्ति हुई है।

इस से भी निर्बल युक्ति पिश्चेल की है कि **कठपुतली** के खेल से नाटक की उत्पत्ति हुई है—इस खेल का प्रयोग महाभारत, कथासरित्सागर और बालरामायण से प्रकट होता है। 'सूत्रधार' और 'स्थापक' नाम नाटक के साथ कठपुतली के सम्बन्ध के प्रदर्शक हो सकते हैं। किन्तु इस उपपत्ति के और कोई परिपोषक नहीं हैं। यह हो सकता है कि नाटक का विकास ही कठपुतलियों की उत्पत्ति का कारण हो—नाटकीय अभिनय का संक्षेप से अनुकरण करने के लिए उन का प्रादुर्भाव हुआ हो। किन्तु इस का विपरीत क्रम सम्भव नहीं।

संस्कृत नाटक के विकास में **छायानाटक** एक प्रधान अंग माना गया है। प्राचीन छायानाटक के अस्तित्व के विषय में जो प्रमाण दिए गए हैं वे विश्वसनीय नहीं। इस प्रकार का छायानाटक 'धर्माभ्युदय'—"छायानाट्यप्रबन्ध"—था जिसका समय निश्चित नहीं है। हम जानते हैं कि छायानाटक की उत्पत्ति भारत के किसी एक भाग में हुई है क्योंकि नीलकण्ठ ने उसको माना है। किन्तु प्राचीन नाटक के विकास पर छायानाटक का प्रभाव पड़ना सम्भव नहीं जान पड़ता।

क्या संस्कृत नाटक पर यूनान का प्रभाव पड़ा है ?

संस्कृत नाटक के आकस्मिक विकास को देख कर कुछ पाश्चात्य विद्वानों को यह संभ्रम हुआ है कि इस विषय में भारतवर्ष यूनान का ऋणी है। सब से पहिले वेबर (Weber) ने इस मत का प्रतिपादन किया था, किन्तु पातञ्जल-महाभाष्य में भारतीय नाटक का अस्तित्व सिद्ध होने पर उन्हें यह कह कर सन्तोष करना पड़ा कि संस्कृत नाटक पर यूनान का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा ही होगा। परन्तु पिश्चेल (Pischel) ने बड़ी भीषणता से इस परिवर्तित मत का निराकरण किया, और इस के बाद विंडिश्च (Windisch) ने बड़े प्रयत्न से यह दिखाने की चेष्टा की कि संस्कृत नाटक पर कहाँ तक यूनान का प्रभाव पड़ा है। प्रोफैसर कीथ (Prof. Keith) की दृष्टि में विंडिश्च की स्थिति का विशेष महत्व है, क्योंकि उन के विचार में विंडिश्च ने भारतीय नाटक की स्वतन्त्र विकास-सामग्री को पूर्णतया स्वीकार किया है। वीरकाव्य के संकीर्तन और नट का आङ्गिक अभिनय, बस यहीं तक इस सामग्री की सीमा है; इस से आगे नहीं। जिस से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि महाभाष्य में निर्दिष्ट नाटक और उत्तर-कालीन संस्कृत नाटक में आकाश पाताल का अन्तर है। विषय में भिन्नता है, वीर और काल्पनिक चारित्रों की अतिमानुषता दूर कर के उन को लौकिक जीवन से सम्पृक्त किया गया है। नाटक का प्रधान विषय हर्ष-पर्यवसायी प्रणय है। कथावस्तु के विकास में नाटकीय कला प्रदर्शित की गई है। अभिनय-कार्य दृश्यों में विभक्त किया

गया है। चरित्र-प्रत्यादर्श विकास को प्राप्त हुए हैं। आख्यान के स्थान को सम्वाद ने ले लिया है। पद्य के साथ गद्य का, संस्कृत के साथ प्राकृत का संमिश्रण किया गया है। इस अपूर्व परिवर्तन से जो लोग यह अनुमान निकालते हैं कि इस अद्भुत विकास में कुछ न कुछ यूनान के सम्पर्क का फल है वे शायद इस बात को मानने के लिए तय्यार नहीं हैं कि यूनान के नाटकीय विकास में भी ठीक ऐसी ही आकस्मिकता दृष्टि-गोचर होती है।

अस्तु। जैसा कि प्रोफैसर रालिनसन (H. G. Rawlinson) फ़रमाते हैं, यदि भारतवर्ष में यूनान की साहित्यिक भाषा का प्रचार होता तो यह मानने में कोई अड़चन नहीं थी कि भारतीय नाटककारों ने प्रसिद्ध ग्रीक लेखकों की रचनाओं को पढ़ा होगा। किन्तु उपलब्ध प्रमाणों से किसी तरह यह अनुमान नहीं किया जा सकता। इस में सन्देह नहीं कि सागल के दरबार में बैक्ट्रिया-निवासी यूनानियों के उत्तराधिकारियों से अपभ्रंश ग्रीक बोली जाती थी, किन्तु तत्कालीन सिक्कों से मालूम होता है कि वह मृतप्राय हो चुकी थी। कुशन राजाओं के दरबार में जो ग्रीक बोली जाती थी वह और भी अधिक भ्रष्ट अवस्था में थी। वस्तुतः उस के बोल चाल की भाषा होने में भी सन्देह है। केवल विदेशियों के साथ राजनीति और वाणिज्य की भाषा के तौर पर उस का प्रयोग होना सम्भव है। बेरीगाजा में व्यापारियों ने कुछ टूटी फूटी ग्रीक बोलनी अवश्य सीखी होगी। इसी तरह संगतराशों ने कनिष्क के विदेशी कारीगरों के साहचर्य से

काम चलाने के लिए मामूली भाषा-ज्ञान प्राप्त किया होगा। किन्तु इस से यह कभी सिद्ध नहीं होता कि भारतवासी यूनान की साहित्यिक भाषा से परिचित थे। न इस बात पर ही अधिक अवलम्ब किया जा सकता है कि भारतीय ज्योतिषी और वैद्य यूनानी ज्योतिष और चिकित्सा से अभिज्ञ थे। यह ज्ञान भारतवर्ष में उन विद्यार्थियों से लाया गया जिन्होंने बाहर उस का अध्ययन किया था। इसी प्रकार मध्यकालीन यूरोप अरब के ज्योतिर्विदों और वैज्ञानिकों का बहुत कुछ ऋणी है किन्तु इस का यह मतलब नहीं है कि बेकन रोगर (Bacon Roger) और अन्यान्य विद्वान् अरबी भाषा जानते थे। वस्तुतः वे उस से बिल्कुल अनभिज्ञ थे।

केवल मृच्छकटिक ही एक ऐसा संस्कृत नाटक है जिस में ग्रीक हर्ष-पर्यवसायी नाटक (Comedy) के साथ कुछ वास्तविक सादृश्य पाया जाता है। विन्सेंट स्मिथ भी जिस को भारतीय उत्कर्ष के स्वीकार करने में एक प्रकार की अरुचि सी है, यह कहने में संकोच करेगा कि शकुन्तला नाटक का ग्रीक नाटकों के साथ किसी प्रकार का सादृश्य है। वस्तुतः यदि भारतीय और एलिज़बेथन नाटकों की परस्पर तुलना करें तो उक्त सादृश्य की निःसारता साफ़ ज़ाहिर हो जाती है। संस्कृत नाटक का विदूषक शेक्सपियर के फूल (Fool) से बिल्कुल मिलता जुलता है। शकुन्तला का जितना घनिष्ठ सादृश्य विंटर्स टेल (Winter's Tale) जैसी रोमैंटिक कामेडी (Ramantic Comedy) अथवा ब्यूमौंट (Beaumont) और

फ्लेचर (Fletcher) के नाटकों के साथ है उसके सामने ग्रीक नाटकों से प्रायः कुछ भी नहीं है। ग्रीक नाटकों का अभिनय सार्वजनीन खुली रङ्गभूमि में होता था, एलिज़बेथन और संस्कृत नाटकों का राज-सभाओं और बंद रङ्गशालाओं में। रामगढ़ में डाक्टर ब्लौच ने जिस छोटे से रङ्गाङ्गण का पता लगाया है वह बिल्कुल अपूर्व है, और सम्भवतः किसी चतुर यूनानी कारीगर की कारीगरी का नमूना है। एलिज़बेथन नाटककारों की भाँति भारतीय नाटक-लेखक भी 'देश काल की एकता' (Unity of time and place) के प्रति महती अनास्था प्रदर्शित करते हैं, और उन्होंने निर्विशेषतया गद्य और पद्य का संमिश्रण किया है। यह सच है कि भरत-नाट्य-शास्त्र में इस बात का विधान किया गया है कि एक समय में रङ्गमञ्च पर पाँच से अधिक पात्र प्रवेश नहीं कर सकते और ग्रीक नाटकों की भाँति संस्कृत नाटकों में भी भयावह और अयुक्त घनटाओं के अभिनय का निषेध किया गया है। किन्तु ये ऐसी बातें हैं जिन का स्वतन्त्रता से प्रादुर्भाव होना सम्भव है।

यवनिका या जवनिका शब्द Ionian यवन शब्द से बना है जो यूनानी का वाचक है और नाटकों में पर्दे के सम्बन्ध में प्रयुक्त है। किन्तु यह एक सर्वसम्मत बात है कि उस का अर्थ केवल इतना ही हो सकता है कि फ़ारिस आदि देशों से यूनानी शिल्पियों की बनाई हुई जो कामदार पट्टियां यहाँ आती थीं उन्हें यवनों की बनाई हुई होने के कारण यवनिका कहते

थे। रङ्गमञ्च पर उस से पर्दे या आवरण का काम लिया जाता था। सुविधा के लिए उसे 'यवनिका पटी' न कहकर केवल यवनिका कहा जाना स्वाभाविक ही था। इस से यह सिद्ध होता है कि पर्दे की प्रणाली यूनान से नहीं ली गई। इस के अतिरिक्त यह बात ही सन्देहास्पद है कि यूनानी रङ्गाङ्गणों में पर्दे का प्रयोग होता था।

मनुष्य की बुद्धि सदृश कारण-सामग्री के मिलने से सर्वत्र प्रायः एक जैसी स्फुरित होती है। यदि यूनान में भारत की जैसी अवस्थाओं के होते हुए, वीर-काव्य के अनन्तर सहसा नाटकीय विकास को देख कर हम उस की स्वतन्त्रता को मानने के लिए तय्यार हैं तो फिर कोई कारण नहीं कि भारतीय नाटक के स्वतन्त्र विकास पर इस तरह सन्देह किया जाय। जिस देश ने अनेक शास्त्रों में आशातीत उन्नति की है, जिस की सभ्यता की प्राचीनता पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता, उस को नाटकीय कला के विकास के लिए विदेशियों का अनुकरण करना पड़ा हो और वह भी ऐसी अवस्थाओं में जिन्हें कदापि अनुकूल नहीं कह सकते, यह सब सम्भव प्रतीत नहीं होता।

अश्वघोष और बौद्ध नाटक

शारिपुत्रप्रकरण–भारत के प्राचीनतम नाटक बौद्धों के हैं। टर्फन (मध्य तुर्किस्तान) में भूर्जपत्र पर लिखी हुई कुछ हस्त-लिखित प्रतियों के अंक मिले हैं। प्रोफैसर ल्यूडर्स (Luders) के उद्योग से कम से कम तीन बौद्ध नाटक इस उपलब्धि के फल स्वरूप में संस्कृत साहित्य के भाण्डार में पहुँचे हैं। इन में से सौभाग्यवश एक का कर्तृत्व निश्चित है, क्योंकि उस का अन्तिम पत्र सुरक्षित मिला है जिस के लेख से मालूम हुआ है कि नाटक का नाम शारिपुत्र प्रकरण है और उस का कर्त्ता सुवर्णाक्षी का पुत्र अश्वघोष था। इस नाटक का पूरा नाम शारद्वती-पुत्रप्रकरण है और यह नौ अङ्कों में पूर्ण हुआ है।

हाल ही में उस के 'बुद्धचरित' की उपलब्धि और प्रकाशन से अश्वघोष की कीर्ति-कौमुदी और भी चमक उठी है। इस महाकाव्य में उत्कृष्ट शैली और सद्भाव के साथ बुद्ध की जीवनी का वर्णन किया गया है। तिब्बती भाषा में अनूदित उस का सूत्रालङ्कार नाम का एक और ग्रन्थ भी मिलता है जिस से प्रकट होता है कि उसने किस क्षमता के साथ बौद्ध मत के समर्थन के लिये उस की कथा को चमत्कृत किया है। यदि यह श्रुतिपरम्परा ठीक हो कि "महायानश्रद्धोत्पाद" भी उसी की रचना है तो वह एक सूक्ष्म अध्यात्म-दर्शन का भी प्रतिपादक था, जो महायान सम्प्रदाय के विज्ञान-वाद से मिलता जुलता है। 'वीरसूची' से विदित होता है कि उस ने

वर्णव्यवस्था का घोर खण्डन किया है। उस पर यह अधिक्षेप किया है कि ब्राह्मणों को क्षत्रियों का अवकर्ष करके बड़प्पन देना और बौद्धधर्म की इस लिए निन्दा करना कि बुद्ध को क्षत्रिय हो कर ब्राह्मणों को उपदेश देना अनधिकार चेष्टा थी नितान्त निन्दनीय और अक्षम्य है। उसका सौन्दरानन्द निःसन्देह प्रकृति सुन्दर है। इस की रचना वीरकाव्य के ढँग पर हुई है और इस में भी, अश्वघोष की अन्य रचनाओं की भाँति, शिष्टजनोचित साहित्यिक भाषा में बौद्धमत का प्रभावोत्पादक प्रतिपादन किया गया है। अश्वघोष वह व्यक्ति था जो इस बात को समझता था कि बौद्ध धर्म को ऐसे साहित्यिक रूप में रखने से काम नहीं चलेगा जो ब्राह्मणों की उत्तम रचनाओं के सामने तुच्छ प्रतीत होता है, और यह एक विचित्र बात है कि जब ब्राह्मणों के इस प्रतिस्पर्धी के आदर्श विस्मृति के गर्भ में अन्तर्हित कर दिए गए हैं भाग्यवश उस की रचना विदेश में सुरक्षित रह कर हम तक पहुँची है। अश्वघोष को पथ-प्रदर्शन करने के लिए उस से पूर्व अनेक आदर्श विद्यमान थे—यह बात उस के नाटकों की रचना से बिल्कुल स्पष्ट है।

अश्वघोष के नाटक के कर्तृत्व के विषय में यदि कोई शङ्का रहती हो तो वह इस बात से दूर हो जाती है कि बुद्धचरित से उस में एक पद्य लिया गया है और दो बार उस ने सूत्रालङ्कार में उस का उल्लेख किया है। नाटक की कथा स्पष्ट ही है। इस में उन घटनाओं का चित्रण है जो युवक मौद्गलायन और शारिपुत्र के बौद्धधर्म का आश्रय लेने में निमित्त हैं, और

इन घटनाओं में से कुछ की यथार्थता निश्चित है। शारिपुत्र ने पहिले अश्वजित् से भेंट की। फिर उस ने अपने वयस्य विदूषक से इस बात का परामर्श किया कि बुद्ध धर्मोपदेश देने का अधिकारी है या नहीं। विदूषक इस बात की आपत्ति करता है कि शारिपुत्र जैसे ब्राह्मण को एक क्षत्रिय से धर्मोपदेश लेना अनुचित है। शारिपुत्र यह कह कर उस का विरोध करता है कि औषधि चाहे छोटी जाति का आदमी भी दे वह रोगी को हितकर ही होती है, शीतोपचार सन्तप्त को फायदा ही पहुँचाता है। मौद्गलायन शारिपुत्र के आने पर प्रसन्नता प्रकट करता है और उस के आने का कारण पूछता है। दोनों बुद्ध के साथ जाते हैं जो उन का स्वागत करता है और यह भविष्यद्वाणी करता है कि उसके शिष्यों में वे सब से अधिक ज्ञानी और अभिचार-शक्ति में बढ़ कर होंगे। अन्त में शारिपुत्र और बुद्ध का दार्शनिक सम्वाद होता है जिस में आत्मा की नित्यता का भी खण्डन किया गया है। इस के उपरान्त बुद्ध अपने नए शिष्यों की प्रशंसा करता है और मङ्गलवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

शारिपुत्रप्रकरण की रचना नाट्यशास्त्र के नियमों ही के अनुसार हुई है। शारिपुत्र उसका चरित्र नायक है जो शास्त्र के ब्राह्मण नायक से मिलता है और प्रशान्त-प्रकृति और उदात्त-गुणसम्पन्न है। प्रकरण की नायिका कोई कुलाङ्गना थी या गणिका यह कुछ नहीं मालूम होता और न ही इस बात का पता चलता है कि कथावस्तु में नाटककार ने क्या कुछ हेर

फेर किया है। बुद्ध और उस के शिष्य संस्कृत बोलते हैं और गद्य पद्य दोनों का प्रयोग करते हैं।

विदूषक प्राकृत बोलता है। इस चरित्र की उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि अश्वघोष के समय तक नाटकीय विकास संरुद्ध हो चला था, नाटक का स्वरूप स्थिर हो चुका था, क्योंकि यदि घटना-सामञ्जस्य पर विचार किया जाए तो इस से अधिक असंगत बात क्या हो सकती है कि एक युवा तपस्वी, जो तत्त्वज्ञान को ढूँढ़ना चाहता है, एक ऐसे पुरुष से भाराक्रान्त हो जो किसी वणिक्, ब्राह्मण अथवा मन्त्री का उपयुक्त अनुचर हो सकता है। इस से यही अनुमान निकलता है कि अश्वघोष एक ऐसे प्रकार का नाटक लिख रहा था जिस में विदूषक का पार्ट इतना बद्धमूल हो चला था कि उसको छोड़ना ठीक नहीं समझा गया। नैसर्गिक रसज्ञतापूर्वक अन्तिम अंक में वह छोड़ दिया गया है—विदूषक जैसे अनुचर की शारिपुत्र जैसे बौद्ध सन्यासी को क्या जरूरत?

उत्तरकालीन नाटकों से अश्वघोष के नाटक में केवल यह एक विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर होती है कि उस में भरतवाक्य के स्थान में बुद्ध का आशीर्वचन है। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। नाटक के अन्तिम वाक्य का बुद्ध के मुख से निकलना ही अधिक उपयुक्त है। अश्वघोष नाट्यशास्त्र के नियमों से पूर्णतया अभिज्ञ है परन्तु कभी कभी वह उचित परिवर्तन भी कर लेता है।

अश्वघोष के अन्य नाटक—जिस हस्तलिखित प्रति में शारिपुत्रप्रकरण के अंश मिले हैं, उसी में दो और

विच्छिन्न नाटक उपलब्ध हुए हैं। उन के कर्तृत्व के विषय में सिवाय इस के और कोई प्रमाण नहीं है कि वे अश्वघोष के पूर्वोक्त नाटक के साथ ही मिले हैं और उन की साधारण आकृति भी उस से मिलती है। उन को और किसी तत्कालीन अज्ञात नाटककार ने लिखा हो इस से अधिक सम्भावना इस में ही जान पड़ती है कि वे अश्वघोष की रचना हैं।

इन में से प्रथम नाटक कृष्णमिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय की भाँति लाक्षणिक है। बुद्धि, कीर्ति, धृति पात्रों के स्वरूप में रङ्ग-मञ्च पर आती हैं। इस के बाद बुद्ध का प्रवेश होता है। दूसरा नाटक अधिक रुचिकर प्रतीत होता है। कुछ मृच्छकटिक ही के ढँग पर उस की रचना हुई जान पड़ती है। वेश्या, विदूषक, दुष्ट आदि चरित्र उस में आते हैं। ये नाटक इतने विच्छिन्न और विकीर्ण हैं कि उन के विषय में कोई राय स्थिर नहीं की जा सकती; केवल इतना कह सकते हैं कि अश्वघोष वाग्विलासिता में भी निपुण था।

अश्वघोष के समय में प्रस्तावना का क्या ढँग था और नान्दी किस तरह होती थी यह कुछ नहीं जान पड़ता।

अश्वघोष के नाटकों की भाषा—उत्तरकालीन नियमों के अनुसार हम देखते हैं कि बुद्ध, उस के शिष्य, वेश-नाटक का नायक और उसमें उल्लिखित धनञ्जय संस्कृत बोलते हैं। आलङ्कारिक नाटकों में भी इसी तरह नियम-पालन दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत में कुछ गलतियां हैं

जो निःसन्देह प्राकृत के अनुकरण हैं और जिन का आरोप ग्रन्थकार में करना नितान्त अनुचित है। नियमों की वास्तविक उपेक्षा बहुत कम है; 'अर्थ' शब्द के लिये 'आर्थ' का प्रयोग तत्कालीन मथुरा की भाषा में भी पाया जाता है; 'तुष्णीं' बौद्ध संस्कृत में बहुधा प्रयुक्त किया गया है और व्युत्पत्ति के अनुसार सही है; 'क्रिमि' शब्द बुद्धचरित में भी मिलता है; 'प्रतीगृहीत' संस्कृत में अन्यत्र भी कई स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। कहीं कहीं नकल करने वालों से भी गलतियों का होना सम्भव ही है। सामान्यतया संस्कृत उत्कृष्ट है और उपलब्ध विछिन्न नाटकों से अश्वघोष की योग्यतापूर्ण कविता-रचना और शैली का प्रतिभान होता है। अन्यान्य चरित्र प्राकृत बोलते हैं जो प्राचीनता में बहुधा पुराने शिलालेखों से मिलती जुलती है।

भास

भास-नाटकों की प्रामाणिकता और समय

भास कालिदास का पूर्वकालीन था-यह बात मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना से स्पष्ट ही है। कालिदास अभी कविता के मन्दिर में प्रवेश कर ही रहे थे किन्तु भास की कीर्तिकौमुदी इस मन्दिर के उपासकों के हृदयों को उजागर कर चुकी थी। ऐसी अवस्था में कालीदास का शङ्कित होना स्वाभाविक ही था—"*प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः*"—लब्ध-प्रतिष्ठ भास, सौमिल्लक, कविपुत्र इत्यादि के प्रबन्धों की उपेक्षा करके वर्तमान-कवि कालिदास की रचना के प्रति आदरातिशय कैसे? दो सौ वर्ष के बाद बाण ने भास की गणना उत्तम नाटककारों में की और फिर एक सौ वर्ष के बाद प्राकृत वीर-काव्य 'गौडवह' के रचयिता वाक्पत्ति ने उसको अपने प्रीतिभाजन कवियों में स्थान दिया। नवीं शताब्दी के अन्त में राजशेखर ने समालोचनात्मक दृष्टि से भास की स्वप्नवासवदत्ता की उत्कृष्टता मुक्तकण्ठ से स्वीकार की। इसके अतिरिक्त सूक्ति-संग्रहों में भी भास की कविता का उल्लेख पाया जाता है। सन् १९१० ई० तक हमारा परिचय भास से इस से अधिक नहीं था। इसी वर्ष स्वर्गीय महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री को दक्षिणी ट्रैवनकोर में १३ हस्तलिखित नाटकों की एक प्रति उपलब्ध हुई, जिस को उन्होंने भास की रचना सिद्ध करने का यत्न किया है।

इन तेरह नाटकों में से छः की कथावस्तु महाभारत से ली गई है। इन नाटकों में से पञ्चरात्र को छोड़ कर अन्य सब एक एक अङ्क के हैं। 'मध्यमव्यायोग' में हिडिम्बा राक्षसी और भीम के पूर्वप्रेम का स्मरण दिलाया गया है; उनके पुत्र घटोत्कच के द्वारा चिरविरह के बाद उन का पुनर्मिलन होता है। 'दूतघटोत्कच' में भी घटोत्कच ही प्रधान चरित्र है। जयद्रथ ने अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु को मारा है। कौरव इस घटना से अपने भाग्य की सराहना कर रहे हैं; घटोत्कच आता है और उनकी भावी विपत्ति की सूचना देता है—अर्जुन की भीषण प्रतिज्ञा सुना कर उन के हृदयों को संक्षुब्ध करता है। 'कर्णभार' में कर्ण के कवच की आगम-कथा, इन्द्र का ब्राह्मण के वेश में आ कर उस से उस के अमोघ कवच और कुण्डल को ले लेना, कर्ण और मद्रराज शल्य का अर्जुन से युद्ध के लिये निकलना इत्यादि हैं। 'ऊरुभङ्ग' में भीम ने अपनी गदा से दुर्योधन की जङ्घाओं को चूर्ण कर के द्रौपदी के अपमान का बदला लिया है। 'दूतवाक्य' में भीष्म कौरव-सेना का सेनापति है। भगवान् कृष्ण दूत का काम करते हैं। उन के आने की सूचना मिलती है। दुर्योधन सब के लिए सख्त आज्ञा कर देता है कि कोई कृष्ण का सत्कार न करे और स्वयं द्रौपदी के द्यूतसभा में हुए अपमान के चित्र को सामने रख कर अकड़ कर सिंहासन पर बैठ जाता है। किन्तु भगवान् अपना वह प्रभाव दिखाते हैं कि जिस से स्वयं उस का अभिमानी हृदय भी स्निग्ध हो जाता है। जब श्रीकृष्ण पाण्डवों को आधा राज्य देने का प्रस्ताव करते

हैं तो वह उन को कारागार में फेंकने की आज्ञा करता है। कृष्ण के दिव्य अस्त्र प्रकट होते हैं किन्तु अन्त में वे अपना क्रोध शान्त करते हैं और धृतराष्ट्र के सत्कार को स्वीकार करते हैं। 'पञ्चरात्र' में तीन अङ्क हैं। द्रोण ने कौरवों का यज्ञ किया है और दक्षिणा में पाण्डवों के लिए वे आधा राज्य मांगते है। दुर्योधन इस शर्त पर राज़ी होता है कि पाँच दिन के अन्दर पाण्डवों का पता लगाना होगा।

बालचरित में बालक कृष्ण की विस्मयावह लीलाओं का वर्णन है। प्रथम अङ्क में कृष्ण का जन्म, नारद का उनके दर्शन के लिए आना, उस का नन्द के घर में पहुँचाया जाना, और वसुदेव का वहाँ से यशोदा की कन्या को लेकर वापिस आने का वर्णन है। दूसरे अङ्क में कंस उस कन्या को शिला पर पटकता है जिस से एक ज्योति निकल कर आकाश की ओर जाती है और कंस को अनेक अपशकुन दिखाई देते हैं जिन से उस के विनाश की सूचना मिलती है। तीसरे अङ्क में हम सुनते हैं कि जब से कृष्ण गोकुल में पहुँचे हैं गोपों के उल्लास की कोई सीमा ही नहीं। अनेक राक्षसों को बालक कृष्ण ने काल के कलेवर में पहुँचा दिया है। गोपियों और गोपों के साथ वृन्दावन में रासलीला करते हैं और ब्राह्मणों और गौओं की रक्षा के लिए तत्पर है। चौथे अङ्क में कालिय नाग का दमन किया जाता है और मथुरा से कृष्ण और बलराम को बालोत्सव में आने की चुनौती मिलती है। पाँचवें अङ्क में कृष्ण मथुरा पहुँच कर कंस के षड्यन्त्रों को विफल कर के उसे यमलोक को पहुँचाते हैं।

प्रतिमा-नाटक और अभिषेक-नाटक की कथा रामायण से ली गई है। इन में क्रम से ७ और ६ अङ्क है। प्रतिमा-नाटक में वनवास से लेकर अयोध्या को वापिस आने तक की विशेष विशेष घटनाओं का वर्णन है। अभिषेक-नाटक में बालि-वध, हनुमान् का लङ्का में जा कर सीता से मिलना और रावण की अवमानना करना, रावण के छद्मों और वध एवं राम के राज्याभिषेक का चित्रण है।

अविमारक की कथा सम्भवतः गुणाढ्य की वृहत्कथा से ली गई है। इसमें छः अंक हैं और अविमारक और कुन्तिभोज की पुत्री राजकुमारी कुरंगी की प्रणय-कथा का चित्रण किया गया है। अविमारक एक राजकुमार है किन्तु किसी अभिशाप के कारण वह एक वर्ष के लिये अपने पिता के साथ किसी नीच कुल में दिन बिता रहा है। वह राजकुमारी कुरङ्गी को हाथी से बचाता है। उस के वंश का कुन्तिभोज को पता नहीं। उस की वर्तमान सामाजिक स्थिति इतनी गिरी हुई है कि उस के साथ राजकुमारी का विवाह सम्भव नहीं। किन्तु प्रेम की विजय होती है और कुरङ्ग-युवतियाँ उन के मिलन की आयोजना करती हैं। अविमारक चोर के वेश में वहाँ पहुँचता है। यह सारा रहस्य राजा को मालूम होजाता है। अब तो उस को वहाँ से किसी तरह भागना पड़ता है। हताश हो कर वह अग्निसात् होना चाहता है किन्तु अग्नि उसे नहीं जलाती, चट्टान से गिर कर प्राण देना चाहता है परन्तु एक विद्याधर आ कर उस को रोक लेता है और उस को एक ऐसी मुद्रिका देता है जिस के द्वारा

वह स्वयं अदृश्य रह कर आत्मघात करने के लिए उद्यत हुई राजकुमारी को बचाने के लिये महल में पहुँच सके । आखिर नारद आ कर अविमारक के उच्च वंश का परिचय देता है और विवाह हो जाता है ।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण में यौगन्धरायण की नीति और उदयन और वासवदत्ता के प्रणय का वर्णन किया गया है । वत्सराज उदयन वीणा लेकर हाथी का शिकार करने जाता है किन्तु उज्जयिनी के प्रद्योत महासेन के चातुर्यपूर्ण छल से पकड़ा जाता है । यौगन्धरायण बदला लेने की प्रतिज्ञा करता है । उज्जयिनी में महासेन अपनी स्त्री से राजकुमारी वासवदत्ता को उदयन के साथ विवाहने का परामर्श कर रहा है कि इतने ही में वत्सराज के पकड़े जाने का समाचार मिलता है। वे निश्चय करते हैं कि वासवदत्ता उदयन से सङ्गीत सीखेगी। स्वभावतः वासवदत्ता और उदयन एक दूसरे के प्रेम में मुग्ध हो जाते हैं। यौगन्धरायण वेश बदल कर अपने मित्रों के साथ उज्जयिनी में पहुँचता है और उस की युक्तियों से उदयन वासवदत्ता के साथ वहाँ से भाग निकलता है, यद्यपि वह स्वयं वीरता के साथ लड़ने के बाद कैद हो जाता है। महासेन यौगन्धरायण की चतुराई पर मुग्ध होकर विवाह की स्वीकृति दे देता है। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' की कथा चार अङ्कों में समाप्त हुई है ।

'स्वप्नवासवदत्ता' वस्तुतः प्रतिज्ञायौगन्धरायण ही का परिशेष है । इस में छः अङ्क हैं। मन्त्री यौगन्धरायण मगधराज की बहिन पद्मावती से उदयन का विवाह-सम्बन्ध कर राज-शक्ति

को बढ़ाने की चिन्ता में है। किन्तु उदयन वासवदत्ता को कब छोड़ सकता है? इस कारण यौगन्धरायण को नीति से काम लेना पड़ता है। वह वासवदत्ता को अनुनय विनय से अपने पक्ष में कर लेता है और अवसर पा कर यह किंवदन्ती फैला देता है कि वासवदत्ता और यौगन्धरायण लावाणक नामी गाँव में आग लग जाने से जल गए हैं। अब राजा पद्मावती से विवाह करने के लिये सहमत होता है। वेशधारी यौगन्धरायण वासवदत्ता को अपनी भगिनी बता कर पद्मावती की संरक्षकता में कुछ समय के लिए छोड़ आता है। पद्मावती सहृदयी उदयन के प्रेम को सहर्ष स्वीकार करती है किन्तु जब उस को मालूम होता है कि वह अभी तक वासवदत्ता की याद में विह्वल हो रहा है तो उस को प्रचण्ड शिरोवेदना होने लगती है। राजा उस को आश्वासन देने के लिए आता है किन्तु उसे न पा कर वह शय्या पर लेट जाता है और शीघ्र ही उस को वहीं नींद आ जाती है। वासवदत्ता, जो पद्मावती के उपचार के लिए आई थी, समझती है कि वह शय्या पर लेटी हुई है और धीरे से निकट आ कर उसी शय्या पर बैठ जाती है। राजा स्वप्न में बड़बड़ाने लगता है। वह चौंक पड़ती है। वासवदत्ता के स्पर्श से राजा जाग उठता है, वहाँ से भागती हुई वासवदत्ता पर उस की कुछ दृष्टि भी पड़ती है किन्तु वह समझता है यह सब स्वप्न है। वह महल में बुलाया जाता है और उस को यह शुभ समाचार मिलता है कि उस के शत्रु पराजित हो गए हैं। महासेन की ओर से विवाह का चित्र ले कर उसे सान्त्वना

देने के लिये सन्देशहर आता है। पद्मावती चित्र को देख कर चकित हो जाती है। वह उस में वेशधारिणी यौगन्धरायण की बहिन की प्रतिकृति देखती है। इतने ही में यौगन्धरायण भी पहुँच जाता है और सारा रहस्य कह डालता है।

'चारुदत्त' नाटक अधूरा है। केवल उस के पहिले चार अङ्क उपलब्ध हैं जिन में चारुदत्त और वारयोषित् वसन्तसेना के प्रेम का केवल उपक्रममात्र है।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में यह एक नई समस्या उपस्थित हुई है कि जिन को हम भास-नाटक कह कर पुकार रहे हैं वे वास्तव में भास ही के बनाए हुए हैं या नहीं, क्योंकि किसी भी नाटक में ग्रन्थकार का नाम नहीं आया है। भास के नाम से जो सूक्तियां प्रसिद्ध हैं उन में से कोई भी उक्त नाटकों में नहीं पाई जाती।

इस में कोई सन्देह नहीं कि ये सभी नाटक एक ही नाटककार की रचना हैं। बहुत सी बातें इन में एक जैसी हैं। जितने भी अन्य उपलब्ध संस्कृत नाटक हैं उन की अपेक्षा ये सब बहुत छोटे हैं। विशेष कर के प्रस्तावना प्रत्येक नाटक में अत्यन्त संक्षिप्त है और उस में कहीं भी नाटक अथवा नाटककार का नाम नहीं दिया गया है। पञ्चरात्र, प्रतिमा नाटक, प्रतिज्ञायौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्ता के मङ्गल श्लोकों में मुद्रालङ्कार की प्रकृतार्थसूचक युक्ति से काम लिया गया है। बहुत से नाटकों में भरतवाक्य प्रायः एक ही जैसा है— "*इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः*"—हमारे राजसिंह

इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करें। महाभारतीय और रामायणीय नाटकों और बालचरित में सर्वत्र यही प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार विष्णु का परम उपासक था। ब्राह्मणों और गौओं के प्रति उस की महती आस्था थी। जहाँ कहीं पर अवसर मिलता है, ब्राह्मणों के श्रेष्ठ पद पर वह खूब ज़ोर देता है। अन्य नाटकों में यद्यपि उस का ब्राह्मणत्व इतना परिस्फुट नहीं है तथापि यहाँ भी कोई बात ऐसी नहीं है जिस से उस के ब्राह्मण और वैष्णव होने में किसी प्रकार की अड़चन उपस्थित हो। अविमारक के मङ्गलश्लोक में नारायण की वन्दना की गई है और प्रथम अङ्क के आरम्भ में राजा यह कहते हुए प्रवेश करता है कि सब कुछ यज्ञकर्म कर दिए गए हैं और श्रेष्ठ ब्राह्मण मुझ पर सानुग्रह हैं। स्वप्नवासवदत्ता में कृष्ण के भाई बलराम की अभिवन्दना की गई है और पहिले ही अङ्क में आश्रम का दृश्य दिखाया गया है। चारुदत्त के आरम्भ में भी यज्ञकर्म का उल्लेख किया गया है; चारुदत्त स्वयं ब्राह्मण है और मैत्रेय को मातृकाओं के लिए बलि लाने के लिए भेजता है।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्ता में तो अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। चित्र के द्वारा विवाहोत्सव के मनाने का वर्णन कवि की अपनी कल्पना है जो इन दोनों नाटकों में है, कथा सरित्सागर में नहीं मिलती। ऐसे ही और भी नाटक हैं जिन में कल्पना सादृश्य पाया जाता है। इस के अतिरिक्त कुछ विशेष शब्द ऐसे हैं जो प्रायः सभी नाटकों में पाए जाते हैं। कुछ गौण चरित्र ऐसे हैं जिन के नाम अलग अलग नाटकों

में एक ही हैं। स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, प्रतिमा नाटक और अभिषेक-नाटक में प्रतिहारी का नाम विजया है; महासेन और दुर्योधन दोनों के कञ्चुकी का नाम बादरायण है। कुछ विशेष वर्णन ऐसे हैं जो ज्यों के त्यों अनेक नाटकों में पाए जाते हैं, उदाहरणार्थ अन्धकार के वर्णन में निम्नलिखित श्लोक बालचरित और चारुदत्त के प्रथम अङ्क और अविमारक के तीसरे अङ्क में आता है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिः निष्फलतां गता॥

अन्धकार मानो शरीर को पोत रहा है और आकाश मानो काजल बरसा रहा है; असत्पुरुष की सेवा की भाँति दृष्टि निष्फल हो गई है।

रचनाविन्यास में भी इन नाटकों में सादृश्य है। नाटककार ने नाट्यशास्त्र का उल्लङ्घन कर के यत्र तत्र रङ्गमञ्च पर भीषण युद्ध और वध के दृश्य दिखाए हैं। कार्य-प्रवाह की क्षिप्रता में भी वे सब सदृश हैं। आकाशभाषित का बाहुल्य के साथ प्रयोग किया गया है। ऐसे अनेक प्रबल प्रमाण हैं जिन से सिद्ध होता है कि एक ही ग्रन्थकार ने इन सब नाटकों को लिखा है।

अब रही यह बात कि भास इन का रचयिता है या नहीं। भास नाटकों की प्रामाणिकता और समय में बहुत मतभेद है। इस सम्बन्ध में राजशेखर का कथन विशेष ध्यान देने योग्य है—

भासनाटकचक्रेऽपि छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहको ऽभून्न पावकः ॥

जब विद्वानों ने भास के नाटकों की परीक्षा के लिए उन्हें समालोचना की अग्नि में फेंका तो स्पप्नवासवदत्ता को वह न जला सकी।

इस से यह सिद्ध होता है कि राजशेखर को भास का बहुत से नाटकों का रचयिता होना विदित था और समालोचकों ने स्वप्नवासवदत्ता की बड़ी सराहना की। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री को जो नाटक उपलब्ध हुए हैं उन में से एक का नाम ही केवल स्वप्नवासवदत्ता नहीं है किन्तु वह भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ नाटकों में है और अपनी उत्कृष्टता के कारण भास के नाम के सर्वथा अनुरूप है। अतएव मानना पड़ेगा कि भास ही उस का रचयिता है, और जब यह बात सिद्ध हो गई तो अन्य बारह नाटकों को भास की रचना मानना स्वयं ही सिद्ध हो गया। प्राकृत महाकाव्य गौड़वह के रचयिता वाक्पति (लग भग सन् ८०० ई०) ने भास को 'जलनमित्त' अर्थात् 'अग्नि का मित्र' कहा है। उक्त नाटकों के लेखक के लिए यह पद बिल्कुल उपयुक्त है। स्वप्नवासवदत्ता में लावाणक की अग्नि, जिस में वासवदत्ता का भस्मसात् होना प्रसिद्ध किया गया था, इस नाटक के सूत्रपात्र का कारण है। पञ्चरात्र में वनाग्नि का ओजस्विता-पूर्ण वर्णन किया गया है। अभिषेक-नाटक में सीतादेवी अग्नि में प्रवेश करती हैं और अग्निदेव स्वयं उन की

विशुद्धता की साक्षी देता है। अविमारक का चरित्रनायक अपने आप को वनाग्नि में फेंकता है किन्तु आग की लपटें चन्दन की तरह शीतल हो जाती हैं।

इन नाटकों की भाषा और विशेष करके उनकी 'प्राकृत' से उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। उनकी प्राकृत अन्य संस्कृत नाटकों की प्राकृत की अपेक्षा प्राचीनतर है। अश्वघोष ने जिस पुरानी प्राकृत का प्रयोग किया है उस के नमूने यहाँ विद्यमान हैं। इस के अतिरिक्त स्थल स्थल पर संस्कृत के आर्ष प्रयोग भी पाए जाते हैं। इस मत के विपरीत यह भी कहा जाता है कि इन नाटकों में प्राकृत के प्राचीन रूप दाक्षिणात्य हस्तलिखित ग्रन्थों की विशेषता हैं।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि उक्त नाटकों का लेखक कालिदास का पूर्वकालीन है और वह हमारा विश्रुत नाटककार भास ही हो सकता है। यदि कालिदास का समय सन् ४०० ई० के लगभग मानें तो भास का समय ३५० ई० से ऊपर नहीं हो सकता।

भास की नाटकीय कला और शैली

भास का बुद्धि-वैभव उस के नाटकों की संख्या और विषय की भिन्नता से स्पष्ट ही है; उन से उस की मौलिकता और कल्पना-वैचित्र्य की सूचना मिलती है। यद्यपि प्रतिमानाटक और अभिषेक नाटक में चरित्र-चित्रण अच्छा नहीं हुआ है तथापि यहाँ भी कवि ने कुछ कौशल प्रदर्शित किया अवश्य

है। रामायणीय कथा में कर्मरायता का सञ्चार कर के उस को नाटकोपयोगी बनाया है।

महाभारतसम्बन्धी नाटकों में कल्पनाशक्ति और रमणीयता अधिक परिस्फुट हैं। मध्यमव्यायोग में हिडिम्बा की अपने चिर-प्रोषित पति को देखने की उत्कराठा का भली भाँति उपयोग किया गया है। माता के प्रति पुत्र की आज्ञापालन का चित्रण घटोत्कच और मध्यम के चरित में अच्छा अंकित हुआ है। माता की आज्ञा पिता की आज्ञा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण दिखाई गई है। पिता और पुत्र का संघर्ष जब कि दोनों एक दूसरे से अनभिज्ञ हैं मौलिक है, यद्यपि उस का अन्त विषादमय नहीं। कर्णभार में स्वाभिमानी कर्ण की महानुभावता पर ज़ोर दिया गया है। महाभारत में वह इन्द्र को अपना कवच दे तो देता है किन्तु उस के बदले में अमोघ शक्ति की याचना करता है। यहाँ यह कुछ नहीं—राजकुमार कर्ण को इसी में परितोष है कि वह देवेन्द्र तक को भी वर दे सकता है। दूतघटोत्कच में भी वही वीरोचित ऊर्जस्विता है, जिस से श्रोताओं के हृदय वीर रस से आप्लावित हो जाते हैं। कौरवों के प्रमोद के साथ धृतराष्ट्र के संशयों और घटोत्कच की इस मर्मस्पर्शी सूचना में कि अर्जुन ने अपने पुत्र की मृत्यु का बदला लेने की भीषण प्रतिज्ञा की है खूब प्रभावोत्पादक वैलक्षण्य दिखाया गया है। दूतवाक्य में दुर्योधन के चरित्र और कृष्ण की महानुभावता का वैलक्षण्य सराहनीय है। चित्र-कल्पना प्रभावोत्पादक रूप से प्रपञ्चित की गई है और श्रीकृष्ण के प्रति कवि का प्रगाढ़ भक्तिभाव

प्रकट होता है। ऊरुभंग में दुर्योधन को उस के गर्व का—भगवान् कृष्ण के प्रति अविनीतता का—समुचित ही दण्ड मिला है। दुर्योधन इस नाटक का प्रधान विषय है किन्तु चरित्रनायक नहीं। अधर्म का अन्त विषादमय होता है, यह बात यहाँ दर्शाई गई है। दुर्योधन की मृत्यु का चित्रण प्रशंसनीय है। उस का पुत्र जो बड़े चाव से उस की गोद में बैठता था उस के पास आता है किन्तु अब पुत्र का स्पर्श उस के लिए सह्य नहीं! दुर्योधन में उस के मनुष्यत्व को दूषित करने वाले चाहे जो कुछ अवगुण रहे हों, मरणसमय में वह अपनी धीरता को नहीं खोता। ऊरुभंग की भाषा अत्यन्त ओजस्विनी और सुन्दर है। संस्कृत साहित्य में केवल यही एक शोकान्त नाटक है।

इन नाटकों में गद्यात्मक सम्वाद प्रायः नहीं हैं। इन की पद्य-प्रचुरता हमें इस बात का स्मरण दिलाती है कि इन की रचना पर वीर-काव्य की छाया पड़ी है। व्याकरणसम्बन्धी कुछ आर्ष प्रयोग भी इन में मिलते है

बालचरित से भास की प्रतिभा की मौलिकता प्रकट होती है। दूसरे अंक का विष्कम्भक भयानकता में अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। कृष्ण वीरता के अवतार हैं। कंस में कोई गुण नहीं और उस का वध समुचित ही है। शृंगार, वीर और विस्मय का एकत्र सन्निवेश किया गया है। नाटकीयता की दृष्टि से बालचरित में यह एक बड़ा दूषण है कि दोनों पक्ष समान नहीं हैं—उन में भारी विषमता है। कृष्ण कभी संकट में पड़ते ही नहीं। वे वीरोचित कर्म करते हैं सही किन्तु

इतनी आसानी से कि उन का पूर्ण प्रभाव हृदय पर पड़ने का अवसर नहीं पाता ।

अविमारक में प्राक्तन किन्तु प्रगाढ़ प्रेम की कहानी है। यहाँ भी वही क्षिप्रकारिता, वही धारावाहिनी कर्मरायता दृष्टिगोचर होती है । घटनाओं और अवस्थाविशेषों का निःसंकोच आवर्तन किया गया है । चरित्र-नायिक दो वार आत्मघात करने के लिए उद्यत होता है । यही बात एक बार नायिका भी करना चाहती है । निर्वहरण-सन्धि कुछ कृत्रिम जैसी है यद्यपि विवाह को सम्भव बनाने के लिए कोई इसी प्रकार की कल्पना आवश्यक थी। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में उदयन और वासवदत्ता के यौवनोचित प्रेम का अच्छा हृदयंगम दिग्दर्शन कराया गया है । कार्य-प्रवाह का वेग उस कुशलता के अनुरूप ही है जिस का आरोप मन्त्री यौगन्धरायण में किया गया है । समुदाचार, साहस और राजभक्ति के संमिश्रण से यौगंधरायण का चरित्र बहुत ही मनोहर हो गया है ।

स्वप्नवासवदत्ता में उदयन का पत्नीव्रत और अनुराग अत्यन्त उच्च कोटि का है—हर्ष के नाटकों का उदयन उस के सामने बहुत तुच्छ लगता है । उस को पूर्ण निश्चय है कि वासवदत्ता मर गई है । उस का यह विश्वास उस के प्रेम को शिथिल नहीं करता । वासवदत्ता के गुणों के स्मरण से उस का हृदय और भी विह्वल हो जाता है । उसका यह विशुद्ध प्रेम उस के चरित को बहुत उन्नत कर देता है । वह पद्मावती से विवाह करता है, कुछ इस लिए नहीं

कि उस के हृदय ने इस बात की प्रेरणा की हो किन्तु इस में राजनीति ही प्रधान कारण है। वासवदत्ता भी हर्ष की वासवदत्ता से बिल्कुल भिन्न है। उस का हृदय संकुचित नहीं, विशाल है। ईर्ष्या करना वह जानती ही नहीं। वह पतिपरायणा और पति के हित में ही अपना हित समझने वाली है। प्रेमियों के चित्रण में भास ने उदयन और वासवदत्ता को सुन्दरता की सीमा तक पहुँचा दिया है। चारुदत्त में भास की पर्यवेक्षण शक्ति अच्छी परिस्फुट हुई है, यद्यपि शूद्रक के मृच्छकटिक के सामने उस का महत्त्व निःसन्देह कम है।

वीर रस के व्यक्त करने में भास निःसन्देह बहुत बढ़ा हुआ है। यौगन्धरायण के चरित्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है और दुर्योधन के चरित्र में तो वीरता का खूब ही कौशलपूर्ण चित्रण किया गया है। दूत घटोत्कच में उस ने दूत की तर्जना का जो उत्तर दिया वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।

भास की प्रतिभाशक्ति वीरता, प्रेम, कारुण्य अथवा विस्मय तक ही समाप्त नहीं हो जाती। विदूषक का चरित्र उस के हाथ में पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ है—उत्तरकालीन नाटककार इस चरित्र को अधिक विकसित नहीं कर सके। अविमारक में विदूषक की स्वामिभक्ति सराहनीय है। वह तन मन से अपने स्वामी पर न्योछावर है। ज़रूरत पड़ने पर मृत्यु में भी उस का साथ देने के लिए तय्यार है। अविमारक स्वयं उस की प्रशंसा करता है। केवल वाग्विलासिता ही नहीं किन्तु और भी अनेक उत्कृष्ट गुण उस में बतलाए गये हैं। वह युद्ध में शूर, शोक में

सान्त्वना देने वाला, विप्रतिपत्तियों के लिए भीषण शत्रु, और बुद्धिमान् मित्र है। यदि प्रतिज्ञायोगन्धरायण में वह अपने स्वामी को सहायता देने का विचार छोड़ देता है तो उस का कारण स्वार्थ नहीं है किन्तु उस को विश्वास हो जाता है कि वत्स जीवित नहीं है। उस की स्वादु स्निग्ध भोजनों की अभिरुचि आदि का भी अच्छा चित्रण किया गया है। स्वप्नवासवदत्ता में उदयन विदूषक से कहता है—मैंने तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तो दे दिया, अब तुम बताओ तुम्हें वासवदत्ता अच्छी लगती थी या पद्मावती अच्छी लगती है? विदूषक इस का जवाब देता है—

"तत्रभवती वासवदत्ता मे बहुमता। तत्र भवती पद्मावती तरुणी, दर्शनीया, अकोपना, अनहङ्कारा, मधुरवाक्, सदाक्षिण्या। अयं चापरो महान् गुणः, स्निग्धेन भोजनेन मां प्रत्युद्गच्छति वासवदत्ता—कुत्र नु खलु गत आर्यवसन्तक इति।"

उन्मत्तक वेशधारी यौगन्धरायण और श्रमणक वेशधारी रुमण्वान् भी मनोरञ्जक हैं। घटोत्कच का अपनी माता हिडिम्बा के सामने भीम को पकड़ कर लाने का जो दृश्य है उस में ललित मृदु परिहास प्रदर्शित किया गया है। वह कुछ कठिनाई के साथ अपने कैदी का परिचय देता है किन्तु जब वह देखता है कि उस के अयथार्थ वर्णन से उस की माता का कुतूहल बढ़ रहा है और जब उस को यह मालूम होता है कि जिसे वह पकड़ कर लाया है वह उस का पिता भीम है तो उस के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। इसी

प्रकार के और भी अनेक स्थल हैं जिन से भास की वाग्विलासिता सूचित होती है।

रचनाविन्यास में भास आलङ्कारिकों के नियमों से पूर्णतया सहमत नहीं है। नाट्यशास्त्र के अनुसार रङ्गमञ्च पर वध नहीं दिखाया जा सकता किन्तु भास ने स्थल स्थल पर इस नियम की उपेक्षा की है। दशरथ की मृत्यु का वह प्रतिपादन करता है। चाणूर, मुष्टिक और कंस के शरीर रंगमञ्च पर पड़े रहते हैं। बाली और दुर्योधन भी वहीं प्राण छोड़ते हैं। किन्तु ये सभी पापाचारी हैं, और इन की मृत्यु से किसी को शोक नहीं होता।

भास ने अपने नाटकों में शुद्धविष्कम्भक मिश्रविष्कम्भक और प्रवेशक के सूक्ष्म भेदों को भी प्रदर्शित किया है। आरम्भ में प्रस्तावना के स्थान में स्थापना शब्द का प्रयोग किया गया है। स्थापना अत्यन्त सरल है। नान्दी के उपरान्त—जो सम्भवतः नेपथ्य में होती है-सूत्रधार प्रवेश करता है, मंगलाचरण पढ़ता है और ज्यों ही वह कुछ घोषणा करना चाहता है उस को कुछ शब्द जैसा सुनाई देता है जिस से वास्तविक नाटक का उपक्रम होता है। कवि के नाम और ग्रन्थ का कहीं उल्लेख नहीं है। 'आत्मगत' 'आकाशभाषित' आदि के नियमों से कवि का पूर्ण परिचय है। आकाशभाषित का प्रभावोत्पादक प्रयोग किया गया है, जैसे कि अभिषेकनाटक में जिस समय रावण कारागार में पड़ी हुई सीता का उपहास करता है और पूछता है—उस को कौन स्वतन्त्र कर सकता है, उस का परित्राण करने

वाले तो सब मृत्यु को प्राप्त हो गए हैं, इस पर नेपथ्य से 'राम राम' की आवाज़ आती है।

भास की कला में निःसन्देह कुछ अपरिष्कृत बातें हैं। वह भयावह स्वच्छन्दता से उस युक्ति का प्रयोग करता है जिस से पात्र रंगमञ्च से निकल कर तत्क्षण ही वापिस आते हैं और ऐसी घटनाओं का वर्णन करते हैं जिन के होने में स्वभावतः बड़ा चिर लगना चाहिए, उदाहरणार्थ, अभिषेकनाटक में शंकुकर्ण को आज्ञा मिलती है कि हनुमान के विरुद्ध एक हज़ार आदमी भेजे, वह तुरन्त ही बाहर जाकर यह कहने के लिए वापिस आता है कि वे सब लड़ाई में काम आ गए हैं। इसी प्रकार जहाँ तहाँ जादू के अस्त्रों और अतिमानुषी शक्तियों का भी प्रयोग देखने में आता है।

गीत और नृत्य का भी कहीं कहीं प्रयोग किया गया है और बालचरित में इन्द्रियातीत सूक्ष्म विषयों का पात्र के रूप में रंगमञ्च पर आना दिखाया गया है जहाँ अभिशाप और राज्यश्री मनुष्यरूप में रंगस्थली में प्रवेश करते हैं।

भास के अधिकांश नाटकों पर यत्र तत्र वीर काव्यों की छाया पड़ी है। युद्ध के दृश्यों के लम्बे लम्बे वर्णनों से नाटकीय कार्य-प्रवाह रुद्ध कर दिया गया है। स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञा यौगन्धरायण की रचना यद्यपि उक्त अपरिष्कृत ढंग पर नहीं हुई है तथापि ये भी सर्वथा दोष-शून्य नहीं हैं। स्वप्नवासवदत्ता के अन्तिम अंक में वासवदत्ता का पद्मावती के साथ रंगमञ्च पर आना और राजा का उस को न देखना अथवा देख कर भी न पहचान सकना कुछ अस्वाभाविक जैसी कल्पना है।

इस के विपरीत, पहिले अंक में वासवदत्ता और मन्त्री यौगन्धरायण के अग्निसात् होने की किंवदन्ती ब्रह्मचारी का का उपयोग करने की युक्ति से प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त की गई है। जिस समय वेश बदल कर वासवदत्ता और यौगन्धरायण आश्रम में आते हैं, उसी समय ब्रह्मचारी भी वहाँ पहुँचता है और उक्त दुर्घटना को अपने वहाँ आने का कारण बतलाता है, राजा पर इस कल्पित घटना का जो असर पड़ा है उस का अत्यन्त करुणा-जनक वर्णन करता है। पाँचवें अंक में वासवदत्ता का पद्मावती के भ्रम से नींद में पड़े हुए राजा के निकट पहुँचने का दृश्य सुन्दर स्वाभाविक ढंग से अंकित किया गया है।

भास की शैली

भास के नाटकों की क्षिप्रकारिता और सादगी उस की शैली में भली भाँति प्रतिबिम्बित होती है। वह पद्य का उपयोग नाटकीय-प्रवाह को अग्रसर करने के लिए करता है, कवित्व-शक्ति के प्रदर्शन के लिये नहीं। यह स्पष्ट है कि भास की शैली बाल्मीकि की रामायण से अधिकतर प्रभावित हुई है। यह प्रभाव केवल वीरकाव्यसम्बन्धी नाटकों ही पर नहीं किन्तु उस की सम्पूर्ण रचना पर पड़ा है। इस प्रभाव का फल बहुत अच्छा हुआ है। नाटकीय आवश्यकताओं ने भास को वीरकाव्य के दोषों से बचा दिया है—समुचित अनुपात के अभाव से वह साफ़ बच गए हैं। इस के अतिरिक्त वाक्सरणि की सादगी के लिए भी वह रामायण का ही ऋणी है। विकटबन्ध,

क्लिष्टकल्पना और समासभूयस्त्व नाटकोपयोगी नहीं हो सकते; भास में यह एक बड़ी विशेषता है कि वह इन अवगुणों से सर्वथा असंपृक्त है । यही कारण है कि उस के नाटकों में संस्कृत के अन्य नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक स्वारस्य है।

भास कोई साधारण श्रेणी का कवि नहीं है। वह काव्य-कला में असाधारण निपुणता रखता है । यदि उस ने अपने नाटकों में पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं किया--भवभूति की भाँति काव्यशैली का अनुसरण नहीं किया-तो इस में उस का सद्विवेचन और सुरुचि कारण हैं। जो शैली काव्य के लिए सुन्दर है वही नाटक के लिए भी सुन्दर हो यह नहीं हो सकता। गीति और काव्य एकान्त में मनन करने के विषय हैं--एक बार न समझ पड़ें तो फिर फिर उन का अवगाहन कर सकते हैं। किन्तु नाटकों में क्लिष्टता लाना--उन को दुर्बोध बनाना--उन के प्रभाव को कम करना है। जो बात श्रोताओं की समझ ही में न आवेगी उस का उन के हृदय पर प्रभाव ही क्या पड़ सकता है ?

लाघवगुणयुक्त और सरल उक्ति भास को सुन्दर लगती है। शल्य वेशधारी इन्द्र को कुण्डल और कवच न देने के लिए कर्ण से आग्रह करता है तो कर्ण कहता है—

शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्
सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः ।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति
हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति ॥

कालान्तर में विद्या भी नष्ट हो जाती है, सुदृढ़ जड़ों से युक्त वृक्ष उखड़ कर गिर पड़ते हैं, जलाशय का जल भी सूख जाता है किन्तु यज्ञ और दान कभी नष्ट नहीं होते।

सीता अग्निपरीक्षा के लिए विवश की जाती हैं तो लक्ष्मण कह उठता है—

विज्ञाय देव्याः शौचं च श्रुत्वार्यस्य शासनम्।

धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता बुद्धिर्दोलायते मम ॥

मैं महारानी सीता की पवित्रता को जानता हूँ, आर्य की आज्ञा को भी मैं सुन चुका हूँ; झूले की भाँति मेरा मन कर्तव्य और स्नेह के बीच में हिलोर ले रहा है।

रावण अपने शत्रु राम के प्रति जिन शब्दों में अवमानना सूचित करता है वे खूब प्रबलता के साथ व्यक्त हुए हैं—

कथं लम्बसटः सिंहो मृगेण विनिपात्यते ?

गजो वा सुमहान् मत्तः शृगालेन निहन्यते ?

लटकती हुई अयाल वाले सिंह को क्या मृग गिरा सकता है ? क्या मदोन्मत्त विशालकाय हाथी को सियार मार सकता है ?

अनुप्रास आदि सुगम अलंकारों का स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग किया गया है। प्रबलता, मानसिक उद्गारों की उपयुक्तता और ओजस्विता के साथ व्यक्त करने की शक्ति का अच्छा प्रदर्शन किया गया है। प्रतिमानाटक में कोपाकुल भरत कैकेयी की निर्भत्सना करते हुए कहता है—

वयमयशसा चिरेणार्यो नृपो गृहमृत्युना
प्रततरुदितैः कृत्स्नायोध्या मृगैः सह लक्ष्मणः ।
दयिततनयाः शोकेनाम्बाः स्नुषाध्वपरिश्रमैः
धिगिति वचसा चोग्रेणात्मा त्वया ननु योजिताः ॥

'तू ने मुझे अपयश का भाजन बनाया है, राजा को अपनी करनी से मृत्यु के मुख में पहुँचाया है, सम्पूर्ण अयोध्या को शोक सागर में डुबोया, लक्ष्मण को वन के हरिणों का सहवासी बनाया, माताओं को शोकाभिभूत किया, पुत्रवधू को मार्ग के दुःख दिखाए और स्वयं अपनी आत्मा को कुत्सित किया है।' राज्य से वञ्चित रखे जाने की राम की अनुमानना का लक्ष्मण ने जो विरोध किया है वह कम प्रभावोत्पादक नहीं है—

यदि न सहसे राज्ञो मोहं धनुः स्पृश मा दया
स्वजननिभृतः सर्वोऽप्येवं मृदुः परिभूयते ।
अथ न रुचितं मुञ्च मामहं कृतनिश्चयो
युवतिरहितं कर्तुं लोकं यतश्चलिता वयम् ॥

यदि आप राजा की रागान्धता को नहीं सहन कर सकते हैं तो अपना धनुष उठाइए, दया दिखाने का यह अवसर नहीं; मृदु स्वभाव वाले का इसी तरह तिरस्कार होता है; किन्तु यदि आप को यह बात रुचिकर न हो तो मुझे आज्ञा कीजिए, मैंने उस लोक को युवतिशून्य करने का निश्चय कर लिया है जिस के कारण हमारी स्थिति डांवाँडोल हुई है।

स्वप्नवासवदत्ता में कृतज्ञता की दुर्लभता पर बड़ा सारगर्भित कथन किया गया है—

गुणानां वा विशालानां सत्काराणां च नित्यशः ।
कर्त्तारः सुलभा लोके विज्ञातारस्तु दुर्लभाः ॥

उदार गुणों के दिखाने वाले और निरन्तर दूसरों का सत्कार करने वालों की संसार में कमी नहीं है किन्तु किए हुए को जानने वालों—कृतज्ञता प्रगट करने वालों का प्रायः अभाव ही है।

ऐसे ही अनेकों स्थल हैं जिन से भास का रचना-सौष्ठव स्पष्ट हो जाता है, सहृदयों के हृदय जिन से मुग्ध हो जाते हैं। अभिनय की दृष्टि से भास के नाटकों का स्थान बहुत ऊँचा है। इस बात में कालिदास के नाटकों के साथ उस के नाटकों का वैलक्षण्य है। स्वाभाविकता और स्वारस्य, सरलता और चरित्र-चित्रण में भास की प्रतिभा किसी से पिछुड़ी नहीं वरन् कई बातों में तो बहुत आगे पहुँच गई है। उस के नाटक इतने लम्बे नहीं हैं कि देखते देखते दर्शकों का मन उकता जाय। नाटकीय प्रवाह इस तीव्र गति से आगे बढ़ता है कि कुतूहल किसी प्रकार कम हो ही नहीं सकता। भाषा इतनी सुबोध है कि एकदम हृदय पर असर कर जाती है। उस के चरित्र अत्यन्त सुन्दर हैं। विशेष कर के स्वप्नवासवदत्ता में कवि ने अप्रातिम कौशल प्रकट किया है। उदयन का स्वप्न नाटकीय कला का कमाल है। गूढ़ प्रेम का मनोहर मृदुलता और दृढ़ विश्वास के साथ जो संमिश्रण किया गया है वह अनुभव करने की वस्तु

है—शब्दों में इतनी शक्ति कहाँ कि उस को पूर्णतया व्यक्त कर सकें। राजा उदयन अपनी प्राणप्रिया वासवदत्ता के लिए विलख रहा है। इसी करुण क्रन्दन में उसे नींद आ जाती है। वासवदत्ता आती है और उसकी शय्या पर बैठती है। कितना भारी प्रलोभन है! किन्तु वह जानती है कि अगर थोड़ी सी भी चूक होगी तो सारा बना बनाया खेल बिगड़ जावेगा—यौगन्धरायण की सारी युक्तियां एकदम मिट्टी में मिल जावेंगी और उदयन की राजकीय समृद्धि स्वप्न की वस्तु हो जावेगी। नाटकीय दृष्टि से यह दृश्य अनुपम है। राजा के उठने पर वासवदत्ता भागती है। वह पीछे दौड़ता है परन्तु किवाड़ से टक्कर खा कर गिर पड़ता है। विदूषक को राजा कहता है कि वासवदत्ता जीवित है। विदूषक हँस कर उत्तर देता है—यह सब स्वप्नमात्र है। तब राजा विषाद से कह उठता है—अच्छा, मैंने स्वप्न देखा है!

यदि तावदयं स्वप्नो धन्यमप्रतिबोधनम् ।
यथायं विभ्रमो वा स्याद् विभ्रमो ह्यस्तु मे चिरम् ॥

यदि यह स्वप्न है तो न जागना धन्य है और यदि यह भ्रम हो तो मुझे चिरकाल तक भ्रम ही रहे। दृश्य ठीक वही है जो शेक्सपियर के विन्टर्स टेल में सिबेशियन के विषय में दिखाया गया है। वह भी कहता है—

What relish is in this?
How runs the stream?
Let fancy still my sense in Lethe steep.
If it be thus to dream, still let me sleep.

मृच्छकटिक

मृच्छकटिक के विश्रुत लेखक राजा शूद्रक के जीवन, समय और तदीयता के विषय में हम जिज्ञासाक्रान्त हृदय से अन्धकार में पड़े हैं। उस ने और भी कोई पुस्तकें लिखी हैं इस का भी पता नहीं, और उस के विषय में उक्त नाटक के प्रस्तावनान्तर्गत कुछ काल्पनिक जैसे उल्लेख को छोड़ कर कोई विस्पष्ट सामग्री इस समय उपलब्ध नहीं है। राजा शूद्रक के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं किन्तु किसी में भी उस का ग्रन्थकार होना नहीं पाया जाता। कुछ हद तक हमारा यह अज्ञान एक प्रकार से कल्याणप्रद है, क्योंकि ग्रन्थकार के शील की जिज्ञासा से बाह्य बातों का अज्ञान हमें उस के ग्रन्थ के सम्यक् अवगाहन के लिये विवश करता है। भारतवर्ष में शूद्रक की स्थिति कुछ निराली नहीं है, प्रत्येक लब्धप्रतिष्ठ संस्कृत लेखक के विषय में—संस्कृतसाहित्य में जीवनचरित्र की इतनी विरलता है—उस की आत्मीयता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम उस की रचना के द्वारा उसे देखने के लिए बाध्य होते हैं।

सब से पहिले यह उचित प्रतीत होता है कि शूद्रक की तुलना भारत के दो बड़े नाटककारों के साथ की जाए और इस तुलनात्मक दृष्टि से उन की अपेक्षा उस का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष दिखाया जाए—किन बातों में वह उन से बढ़ा हुआ है और किन बातों में उन से कम है, इस का सम्यक् पर्यवेक्षण किया जाए।

निःसन्देह भारतीय नाटक के इतिहास में कालिदास, शूद्रक और भवभूति अत्यन्त उत्कर्षशाली नाम हैं। इन में इतनी भिन्नता है और इन सब की महत्ता इतनी है कि किसी एक को ले कर अकेले ही उस स्थान पर बैठाना सम्भव नहीं जो अंग्रेजी के नाटककारों में शेक्सपियर को प्राप्त है। यह ठीक है कि कालिदास की शकुन्तला ने ही अभी तक सब से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है, अपने सौष्ठव से रसिकों के हृदयों को सब से अधिक मुग्ध किया है। यह भी ठीक है कि स्वारस्य-सम्पन्न और मृदुल कालिदास को भारतवर्ष का शेक्सपियर कहा गया है। किन्तु शकुन्तला की इस अनन्य-साधारण प्रशंसा का कारण भारत के अन्य उत्कृष्ट नाटकों से यथार्थ परिचय का अभाव है। इस का एक कारण यह भी है कि शकुन्तला अनूदित होकर उस समय पाश्चात्य देशों में पहुँची जब यूरोप को भारतीय साहित्य से पूर्ण सहानुभूति थी। भवभूति ने भी कालिदास जैसी प्रसिद्धि नहीं पाई और इस का कारण कुछ गम्भीरतर है। भवभूति की शैली की क्लिष्टता, उस में परिहासशीलता का अभाव, और उस का अनवरत वाग्वैभव, ये सभी बातें उस के लोकप्रिय होने में बाधक हैं। जो उस की उदात्तशीलता से सहानुभूति रखते हैं उन की दृष्टि में भवभूति भारतीय कवियों में सदैव श्रेष्ठ प्रतीत होगा। भवभूति स्वयं ही इस बात को जानते थे—

"उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।"

कुछ भिन्न प्रकृति के किन्तु सूक्ष्मदर्शी काव्य-प्रेमी उस की सराहना करते रहेंगे परन्तु उस के प्रति अपना प्रगाढ़ स्नेह प्रदर्शित न कर सकेंगे।

कालिदास और भवभूति में चाहे कितनी ही भिन्नता हो, तत्त्वतः इन में बहुत कुछ समानधर्मता है। किन्तु शूद्रक की तो स्थिति ही निराली है। कालिदास और भवभूति बाहर भीतर, ओतप्रोत, हिन्दू हैं—भारतीयता के रङ्ग में रंगे हुए हैं। शकुन्तला और उत्तरचरित्र की सृष्टि भारत को छोड़ कर और कहीं हो ही नहीं सकती थी। किन्तु शूद्रक सार्वभौमिक है–देश और काल से सीमाबद्ध नहीं। शकुन्तला एक भारतीय युवती है, मालती और माधव भारतीय चरित्र हैं, किन्तु संस्थानक, मैत्रेय और मदनिका संसार के नागरिक हैं। संस्कृत साहित्य की कुछ विचित्र विशेषताओं में–पद्धति-प्रेम, शैली की विकट-बन्धना, श्लेष, अनुप्रास आदि में कालिदास और भवभूति में शूद्रक की अपेक्षा कहीं अधिक भारतीयता है। शूद्रक की रचना में वे प्रशस्य पदावलियां प्रायः नहीं हैं जिन में चीनवासियों के कथनानुसार केवल पद-प्रवाह में रुकावट होती है, अर्थस्रोत निरन्तर बहा चला जाता है। शेक्सपियर के मैकबेथ और हैमलेट में जो पारस्परिक भिन्नता है वही मृच्छकटिक और उत्तर-चरित्र में भी दृष्टिगोचर होती है; एक में तीव्रगामी कार्य-प्रवाह का प्राधान्य है तो दूसरे में तात्त्विक कथनों के कवितामय वर्णन की भरमार। शूद्रक की शैली में जो सादगी है वह संस्कृत नाटकीय कला में एक अपूर्व वस्तु है–अनन्य-

साधारण गुण है। और यद्यपि उत्कट हार्दिक उद्गारों के वर्णन में यह शैली अत्यन्त सौष्ठवपूर्ण सादगी से युक्त है तथापि शूद्रक केवल भाषा में कालिदास की हृदयङ्गमता और भवभूति की वाग्विभवता—"*यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम्*" को नहीं भर सके।

शैलीसम्बन्धी शक्ति की इस परिमितता से एक विशेष लाभ हुआ है। पद्धति-प्रेम ने भारतीय कवियों में धीरे धीरे मौलिकता और उत्साहशीलता का कण्ठरोधन किया है जिस का फल संस्कृत साहित्य के लिए प्राणनाशक ही हुआ है। इस बात में जहाँ संस्कृत के अन्यान्य कवि अक्षम हैं, शूद्रक सर्वोत्कृष्टभाव से देदीप्यमान हो रहा है—अन्तरिक्ष में अपनी कीर्ति-पताका को फहरा रहा है। मृच्छकटिक की जैसी बहुविधता और चरित्र-चित्रण-कुशलता हम संस्कृत साहित्य में और कहीं नहीं देख सकते, नाटकीय क्षेत्र में उस का जैसा परिहासविलास अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। यहाँ पर ग्रन्थकार की इन विशेषताओं—उस की बहुविधता, चरितचित्रण-कौशल और वग्विलास—पर कुछ सविस्तर विवेचन उपस्थित किया जाता है।

शूद्रक की बहुविधता के दिग्दर्शन के लिए हमें केवल मृच्छकटिक के अङ्कों के नाममात्र का स्मरण करना पड़ता है। जुआ खेलने वाले संवाहक और गृह-सन्धि के अनन्तर ही हमारी दृष्टि के सामने तूफान का दृश्य उपस्थित हो आता है, बहेलियों की अदलाबदली के उपरांत ही वसन्तसेना के गला

घोंटने का नज़ारा आँखों के सामने आता है। प्रहसन से विषाद की ओर, परिहासाधिक्षेप से कारुण्य की ओर शेक्सपीरियन आयाम के साथ कथास्रोत निरन्तर बहा चला जाता है। तत्त्व-कथन और कारुण्य, प्रकृतिवर्णन और हार्दिक दुःखातिरेक का अपूर्व संमिश्रण है।

निर्धनता की बुराइयों का वर्णन करते हुए चारुदत्त कहता है—

"अहो ! निर्धनता सर्वापदामास्पदम् ।"

निर्धनता सब अनर्थों की जड़ है। इत्यादि स्थल स्थल पर तात्त्विक, कथन किया गया है।

कारुण्य का भी क्या ही अच्छा चित्रण किया है—दो चाण्डाल चारुदत्त को वधस्थान की ओर ले जा रहे हैं, उस के सताए हुए हृदय से एक विषाद-पूर्ण उच्छवास निकलता है—

"नयनसलिलसिक्तं पांशुरूक्षीकृतांगं
पितृवनसुमनोभिर्वेष्टितं मे शरीरम् ।
विरसमिह रटन्तो रक्तगन्धानुलिप्तम्
बलिमिव परिभोक्तुं वायसास्तर्कयन्ति ॥"

मेरा शरीर आँसुओं के गिरने से तर हो रहा है, मेरे अंग धूलि से धूसरित हो रहे हैं और मरघट के फूलों से सजे हुए हैं, सारी देह लाल चन्दन से लिपी हुई है; कौवे उस को बलि समझ कर कर्णकटु स्वर से काँव काँव कर रहे हैं।

वसन्तसेना चारुदत्त के घर जाने को है। बड़े ज़ोर से पानी बरस रहा है। चारों ओर अन्धकार छाया हुआ है। बिजली कड़क रही है। वह कहती है—

"यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः ।

अयि विद्युत् ! प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि ॥"

यदि बादल गर्जता है तो गर्जे, पुरुष स्वभाव ही से निष्ठुर होते हैं किन्तु ऐ बिजली, स्त्री होकर भी तू प्रमदाओं की पीड़ा को नहीं समझती ? इस उपालम्भ को सुन कर विट कहता है—भगवति ऐसा न कहो—

"ऐरावतोरसि चलेव सुवर्णरज्जुः

शैलस्य मूर्ध्नि निहितेव सिता पताका ।

आखण्डलस्य भवनोदरदीपिकेय-

माख्याति ते प्रियतमस्य हि सन्निवेशम् ॥"

ऐरावत के वक्षःस्थल पर सोने की अस्थिर रस्सी, पर्वत के शिखर पर रखी हुई सफेद पताका, और इन्द्र के घर की दीपिका जैसी यह बिजली तुम्हें तुम्हारे प्रियतम के घर का रास्ता बता रही है। निःसन्देह प्रकृति वर्णन का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

शूद्रक ने अपनी कल्पनाशक्ति को पूर्ण अवकाश देने के लिए स्वभावतः 'प्रकरण'—नाटक का उपभेद—की रचना की है। कई बातों में उस पर भास की छाया पड़ी है किन्तु इस से उस की प्रतिभाशक्ति ढकी नहीं प्रत्युत और भी समुज्ज्वल

हो गई है। भास के 'चारुदत्त' से उस ने जो संकेत लिए हैं उन का यहाँ पूर्ण और अनुरूप विकास हुआ है और उपजाप की नूतन कल्पना ने इस विकास को चमत्कृत बना दिया है।

भास की भाँति शूद्रक ने भी यत्र तत्र नाट्यशास्त्र के सङ्कुचित नियमों की अवहेलना की है। नियमानुसार प्रकरण का नाम नायक और नायिका के नाम से रखा जाना चाहिए और चरित्र-नायक को प्रत्येक अङ्क में आना चाहिए। यहाँ दोनों ही बातें नहीं है। इस स्वतन्त्र मार्ग से चलने का एक सुन्दर फल यह हुआ है कि बसन्तसेना, मैत्रेय, विट आदि बहुत से चरित्र पारिभाषिक-बन्धन से मुक्त हो कर अधिक रमणीय बन गए हैं।

मृच्छकटिक के चरित्र चलते फिरते पुरुष और स्त्रियां हैं—लौकिक चरित्र हैं, लोक से असम्पृक्त नहीं। शूद्रक के पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक व्यक्तिगतता है। सामाजिक स्थिति का इतना पूर्ण और इस से बढ़ कर चित्रण संस्कृत के और किसी नाटक में नहीं मिलेगा।

चारुदत्त का चरित्र अत्यन्त रमणीय है; विदूषक के प्रति उस का वह सद्भाव, पत्नी के प्रति वह सन्मान, पुत्र के प्रति वह अगाध प्रेम, और वसन्तसेना के प्रति वह विमल अनुराग, ये सभी बातें उस के हृदय की महानुभावता सूचित करती हैं। उस को जीवन उतना प्यारा नहीं जितना विमल यश—"*न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः*"—मरने से उस को भीति नहीं, भीति है इस बात की कि कलङ्ककालिमा ने उस के यश को दूषित

कर दिया है—मिथ्यापवाद के उपराग से उस की कीर्ति-कौमुदी अस्त हुआ चाहती है।

वसन्तसेना में न तो शकुन्तला की जैसी मनोहरता है और न सीता की जैसी स्त्रीजनोचित महानुभावता, किन्तु यह सब उस की सामाजिक स्थिति के कारण है। उस का चरित्र निःसन्देह सराहनीय है। वेश्यावृत्ति में रह कर सुखोपभोग करना उस को अच्छा नहीं लगता। निर्धन चारुदत्त से प्रेम करती है तो कुछ सांसारिक अभ्युदय के लिए नहीं किन्तु अपने अन्तःकरण के परितोष के लिए—अपने अन्तरात्मा के श्रेय के लिये। उस के उन्नत हृदय को आकर्षित करने की जो शक्ति चारुदत्त की विमल गुणावली में है वह गर्हित धनसम्पत्ति में कब हो सकती है? चारुदत्त और उस की स्त्री धूता वसन्तसेना के हृदय की उच्चता को समझते हैं। उस का विशुद्ध प्रेम, विदग्धता और वग्विलासिता उस की लावण्यश्री को अत्यन्त समुज्ज्वल बना देते हैं—उस के वेश्यापन को तिरोहित कर देते हैं।

संस्थानक शूद्रक की अत्यन्त उत्कृष्ट कल्पना है—इस चरित्र के चित्रण में अपूर्व कौशल प्रदर्शित किया गया है। उस में यथार्थता और सजीवता को खूब कूट कूट कर भरा गया है। वह राजा का साला है और सम्पत्तिशाली है, इसी से समझता है मेरे अभिलाष में कौन बाधा डाल सकता है। वसन्तसेना के प्रत्याख्यान से उस की अहंमन्यता को आघात पहुँचता है तो वह विना किसी संकोच के उस का गला घोंट डालता है। उस के कुंठित हृदय पर इस दारुण कर्म का कुछ भी तो असर नहीं

पड़ता। विट उस को उस के इस कुत्सित कर्म पर धिक्कारता है तो वह कहता है—"*भाव प्रसीद प्रसीद, एहि, नलिन्यां प्रविश्य क्रीडावः*"—नाराज़ क्यों होते हो, आओ तालाब में चल कर क्रीडा करें। कुलीन और कृतविद्य राजसभासदों के साहचर्य्य में रह कर भी निराबुद्ध, नृशंस और कायर है। उस की कुशलता केवल विश्वासघातकता और प्रवञ्चना करने में है। जिस जीवन का वह अधिकारी नहीं है, उसी के लिए अन्त में कारुण्यपूर्ण शब्दों में अभय मांगने में उस की कृपण प्रकृति को कुछ भी संकोच नहीं होता! पाशविक वृत्तियों का इस से अधिक विकास और क्या हो सकता है? विट का चरित्र इस से बिल्कुल भिन्न है उस में कुलीनता, कृतविद्यता, रसिकता आदि अच्छे गुण विद्यमान हैं। विदूषक का असाधारण वयस्यभाव, संवाहक की कृतज्ञता, आदि सभी सराहनीय हैं। अन्यान्य चरित्रों में भी व्यक्तिगतता भली भाँति परिस्फुट हुई है।

शूद्रक की तीसरी विशेषता उस की वाग्विलासिता है। हास्य और रौद्र, प्रहसनात्मक और विलक्षण भावनाओं की सुचारु रूप से अभिव्यक्ति हुई है। इस विदग्धता और बहुविधता के कारण शूद्रक संसार के बड़े बड़े कवियों के साथ निःसंकोच आसन ग्रहण कर सकता है।

अन्त में मृच्छकटिक के विन्यास के विषय में एक दो बातें कहनी हैं। स्पष्ट है कि वह हद से ज्यादा लम्बा है। इस के अतिरिक्त द्वितीय अङ्क से लेकर पञ्चम अङ्क पर्यन्त प्रधान कथा-प्रवाह रुद्ध हो जाता है, इन अङ्कों की आनुषङ्गिक कथाओं

में हम यह भूल जाते हैं कि प्रधान कथावस्तु का सम्बन्ध वसन्तसेना और चारुदत्त के प्रणय से है। वस्तुतः मृच्छकटिक में दो नाटकों की सामग्री मौजूद है। पहिले अङ्क का अधिकांश भाग और अन्तिम के पांच अङ्कों को मिला देने से कथासूत्र अविच्छिन्न रह कर एक और अविसम्वादिनी कथा बन सकती है; जब कि पहिले अङ्क के अवशिष्ट भाग और तीसरे, चौथे और पांचवें अङ्क की सामग्री से एक छोटा सा स्वतन्त्र नाटक तय्यार हो सकता है। दूसरा अङ्क यद्यपि कल्पना-कौशल से खाली नहीं है तथापि उस का सम्बन्ध न तो प्रधान कथा से है और न आभूषणों की कथा से।

प्राकृत भाषाओं का बाहुल्य—जितनी प्राकृत भाषाओं का मृच्छकटिक में प्रयोग हुआ है उतनी और किसी नाटक में नहीं मिलतीं। शौरसेनी, मागधी आवन्तिका, प्राच्या, चाण्डाली, शाकारी आदि अनेक भाषाएँ उस में आई हैं—मानो ग्रन्थकार का उद्देश्य इस सम्बन्ध में नाट्यसूत्रों को चरितार्थ करना रहा हो।

प्रथम अंक अलङ्कारन्यास नाम से प्रसिद्ध है। पहिले दिन की सन्ध्या को प्रस्तावना के अनन्तर चारुदत्त अपने मित्र मैत्रेय से अपनी निर्धनता पर परिखेद प्रकट कर रहा है। बाहर गली में विट और संस्थानक वसन्तसेना के पीछे भागे हुए आते हैं और संस्थानक उस से अपने घृणित प्रेम का प्रस्ताव करता है, जिसका वह सामर्ष प्रत्याख्यान करती है। चारुदत्त मैत्रेय को बलि देने भेजता है। इसी बीच खुले हुए दरवाजे से वसन्तसेना चुपके से अन्दर बढ़ जाती है। संस्था-

नक के साथ कुछ वादविवाद के अनन्तर मैत्रेय वापिस आता है और वसन्तसेना को पहचानता है। वसन्तसेना अपने गहनों की पोटली को वहीं रहन न्यास कर अपने घर को वापिस चल देती है।

दूसरा अङ्क 'द्यूतकरसंवाहक' नाम का है। दूसरे दिन वसन्नसेना अपने घर में दिखाई देती है। वह अपनी चेटी मदनिका पर चारुदत्त के प्रति अपना प्रेम प्रकट करती है। इस के बाद गली में माथुर और एक और जुआरी से पीछा किया जाता हुआ संवाहक आता है जिस से वे दस सुवर्ण मुद्रा मांगते हैं जिन को वह जुए में हार गया था। इसी बीच दर्दुरक आकर माथुर और दूसरे जुआरी को क्रोधपूर्ण वादविवाद में लगाता है और संवाहक भाग कर वसन्तसेना के घर में पहुँच जाता है। जब वसन्तसेना को मालूम होता है कि वह चारुदत्त की सेवक करता था तो वह उस का ऋण चुका देती है और कृतज्ञ संवाहक संन्यास ले लेता है। जिस समय वह घर से बाहर होता है उस पर एक छूटा हुआ हाथी आक्रमण करता है किन्तु वसन्तसेना का नौकर कर्णपूरक उस को बचा लेता है।

सन्धिच्छेद नाम का तीसरा अङ्क—दूसरे दिन की रात्रि। चारुदत्त और मैत्रेय संगीत सुन कर आते हैं और सो जाते हैं। मैत्रेय के हाथ में वसन्तसेना के गहनों की पोटली है जिस को वह न्यास रख गई थी। शर्विलक का प्रवेश होता है। वह वसन्तसेना की चेटी मदनिका के प्रेम में विह्वल हो रहा है, अतएव

उस ने अपनी प्रियतमा की स्वतन्त्रता के लिए मूल्य देने के प्रयोजन से डाका डालने का निश्चय किया है। वह घर में सन्धि फोड़ कर प्रवेश करता है और गहनों की पोटली को चुरा लेता है। चारुदत्त जाग कर देखता है कि चोर और गहने दोनों नदारद हो गए हैं। उस की स्त्री गहनों की क्षति पूरी करने के लिए उस को अपना मोतियों का हार देती है।

मदनिका और शर्विलक नाम का चौथा अङ्क—तीसरा दिन। शर्विलक मदनिका को स्वतन्त्र करने के लिए वसन्तसेना के घर में आता है। वसन्तसेना चोरी की बातचीत को सुन लेती है किन्तु गहने ले कर मदनिका को स्वतन्त्र कर देती है। जब शर्विलक वहाँ से जाने लगता है तो उस को समाचार मिलता है कि उस का मित्र आर्यक राजा पालक की कैद से भाग निकला है और राजपुरुष उस का पीछा कर रहे हैं। शर्विलक उस की सहायता के लिए चल देता है। इस के उपरान्त चारुदत्त की ओर से मैत्रेय गहनों के बदले में मोतियों का हार ले कर पहुँचता है। वसन्तसेना हार को ले लेती है और इस बहाने से उस को चारुदत्त से मिलने का सुअवसर प्राप्त होता है।

अकालदुर्दिन नाम का पाँचवां अङ्क—तीसरे दिन की सन्ध्या। चारुदत्त अपने घर के उद्यान में दिखाई देता है। यहाँ उस के पास वसन्तसेना का एक नौकर यह समाचार ले कर पहुँचता है कि वसन्तसेना आने वाली है। वसन्तसेना और विट गली में पहुँचते हैं और एकएक कर के तूफान की भीषणता

और सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। वसन्तसेना विट को वापिस भेज कर उद्यान में प्रवेश करती है और चारुदत्त को गहनों के मिलने की सारी कहानी सुनाती है। तूफान इतना बढ़ जाता है कि उस रात को वह वहीं रहने के लिये विवश हो जाती है।

प्रवहणविपर्यय नाम का छठवाँ अङ्क—चौथे दिन की सुबह। वसन्तसेना चारुदत्त के अल्पवयस्क पुत्र रोहसेन से मिलती है। रोहसेन कुछ रुष्ट है क्योंकि अच्छे अच्छे खिलौनों के स्थान में अब उसे केवल एक मिट्टी की शकटिका ही उपलब्ध है। वसन्तसेना सोने की क्रीडा-शकटिका लेने के लिए उस को अपने गहने देती है। चारुदत्त का सेवक वसन्तसेना को उद्यान में ले जाने के लिए—जहाँ वह चारुदत्त से मिलना चाहती है—बहली ले आता है किन्तु वसन्तसेना अभी तय्यारी ही कर रही है। बहोलिया गद्दी लेने के लिये बहली को वापिस ले जाता है। इसी बीच संस्थानक की गाड़ी वहाँ पर पहुँचती है और वसन्तसेना भूल से उस में बैठ जाती है। इस के उपरान्त कैद से भागा हुआ आर्यक चारुदत्त की गाड़ी में बैठता है। दो पुलिस के आदमी उस को ढूंढ़ते हुए वहाँ पहुँचते हैं। उन में से एक बहली के अन्दर जा कर आर्यक को देखता है किन्तु बजाय गिरफतार करने के उस की रक्षा का वचन देता है। इस बात के लिए वह अपने साथी को धोखा देता है और अन्त में उस के साथ असद्व्यवहार करने पर उतर आता है।

आर्यकापहरण नाम का सातवाँ अङ्क—चौथा दिन। चारुदत्त उद्यान में वसन्तसेना की प्रतीक्षा कर रहा है। उस की

बहली, जिस में आर्यक छिपा हुआ है, वहाँ पहुँचती है। चारुदत्त उस को देखता है, उस की बेड़ियों को उतारता है, और उसे अपनी गाड़ी दे कर वहाँ से चल देता है।

वसन्तसेनामोटन नाम का आठवाँ अङ्क—चौथा दिन। संवाहक उद्यान में आता है और मुश्किल से संस्थानक के हाथ से अपने आप को बचाता है, जो विट के साथ वहाँ आया है। इतने में संस्थानक का नौकर स्थावरक भी वहाँ गाड़ी ले कर पहुँचता है। वसन्तसेना को देख कर संस्थानक पहिले तो उस से अपने घृणित प्रेम का प्रस्ताव करता है किन्तु प्रत्यादिष्ट होने पर किसी बहाने से उसे एकान्त में ले जा कर उस का गला घोंटता है और जब समझता है कि वह मर गई है तो वहाँ से चल देता है। बौद्ध श्रमणक संवाहक आता है और वसन्तसेना को सचेत कर उसे एक बौद्ध विहार में ले जाता है।

व्यवहार नाम का नवां अङ्क—पाँचवां दिन। संस्थानक चारुदत्त पर वसन्तसेना के मारने का दोषरोपण करता है। अदालत को मालूम होता है कि तूफान की रात को वसन्तसेना चारुदत्त के घर में ठहरी थी और दूसरी सुबह को वह उद्यान में चारुदत्त से मिलने गई थी, और उद्यान में एक झगड़ा हुआ था जिस में एक स्त्री मारी गई। चारुदत्त का मित्र उन आभूषणों को ले कर वहाँ पहुँचना जो वसन्तसेना रोहसेन को दे गई थी। अदालत में मैत्रेय और संस्थानक की कुछ हथापाई होती है, और मैत्रेय के झोले में से आभूषण फर्श पर गिर पड़ते हैं। चारुदत्त की

निर्धनता पर विचार करने से यह निश्चय होता है कि इन्हीं आभूषणों के लिए उस ने वसन्तसेना को मारा होगा और उस को फांसी का हुक्म मिलता है।

संहार नाम का दशवां अङ्क—

दो चाण्डाल चारुदत्त को वध-स्थान की ओर ले जा रहे हैं। चारुदत्त अपने मित्र मैत्रेय और पुत्र रोहसेन से अन्तिम विदाई लेता है। किन्तु संस्थानक का नौकर बन्धन से भाग कर यथार्थ बात को प्रकट कर देता है। संस्थानक की चालाकी से उस की बात का विश्वास नहीं किया जाता। चाण्डाल चारुदत्त के मारने की तय्यारी कर रहे हैं कि इतने में बौद्ध श्रमणक के साथ वसन्तसेना स्वयं वहाँ पर उपस्थित होती है। उस के आने से कथा का रङ्ग बदल जाता है। उधर से समाचार मिलता है कि पालक को मार कर आर्यक ने राज्य ले लिया है, चारुदत्त को वह पुरस्कृत करना चाहता है और राजाज्ञा से वसन्तसेना वेश्यापन से मुक्त कर दी गई है। संस्थानक वधाज्ञा के लिए चारुदत्त के सामने लाया जाता है किन्तु महानुभाव चारुदत्त उस अपने प्राणाघातक को क्षमाप्रदान कर देता है! भरतवाक्य के साथ नाटक का उपसंहार होता है।

चारुदत्त और मृच्छकटिक का पारस्परिक सम्बन्ध

भास के विच्छिन्न नाटक चारुदत्त और राजा शूद्रक के मृच्छकटिक में इतना घनिष्ठ सादृश्य है कि उन में पारस्परिक उत्पत्ति-विषयक सम्बन्ध मानना अनिवार्य है और उन के स्वतन्त्र उद्गम की सम्भावना का निर्विवाद निराकरण हो जाता है।

साधारणतया यह समझा जाता है कि चारुदत्त मूल-ग्रन्थ है और मृच्छकटिक उस का परिवर्धित और विकसित स्वरूप है। किन्तु इस निर्णय पर पहुँचने से पहिले आलोचनात्मक दृष्टि से उन का निरूपण करना आवश्यक है। केवल इतना ही कह देना पर्याप्त नहीं है कि चारुदत्त संक्षिप्त होने के कारण पूर्वकालीन और मृच्छकटिक विस्तार के कारण उत्तरकालीन है, क्योंकि साहित्य में संक्षिप्त रचना को कल्पना-प्रपञ्च से आप्लावित करना इतना ही स्वाभाविक है जितना विस्तृत रचना को संक्षिप्त स्वरूप में परिवर्तित करना।

अभी तक केवल उन के सादृश्य पर ही लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है किन्तु उन का वैलक्षण्य इस से भी अधिक ध्यान देने योग्य है। इस वैलक्षण्य के आधार पर ही हम इन में से किसी एक की पूर्वकालीनता अथवा उत्तरकालीनता को अधिक युक्तिपूर्वक सिद्ध कर सकते हैं।

इन नाटकों के पारस्परिक सम्बन्ध में केवल दो संभावनाएं हैं; या तो इन में से एक दूसरे का आधार है या इन दोनों का एक ही उद्गम-स्थान है। पहिली अवस्था में हमें यह निर्णय करना पड़ेगा कि इन में से कौन पूर्वकालीन है, दूसरी अवस्था में यह दिखाना आवश्यक है कि मूलग्रन्थ से किस का अधिक सादृश्य है।

अब यहाँ पर रचनाविन्यास, प्राकृत, छन्दोरचना और नाटकीय घटनाओं के वैलक्षण्य पर संक्षेप से विचार किया जाता है।

रचना-विन्यास—चारुदत्त रचनाविन्यास में मृच्छकटिक (एवं संस्कृत के अन्य नाटकों) से दो बातों में भिन्न है। उस की दोनों ही उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में नान्दी नहीं है और स्थापना में कहीं नाटककार या नाटक के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। मृच्छकटिक में दो नान्दी-श्लोक हैं और इस के बाद पाँच श्लोकों में नाटक और उस के रचयिता का सविस्तर उल्लेख किया गया है।

चारुदत्त विच्छिन्न अवस्था में उपलब्ध है, अतएव अवशिष्ट अंश के रचनाविन्यास के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह बात भी उल्लेखनीय है कि रंगमञ्च के निर्देशों में चरित्रनायक चारुदत्त का कहीं भी नाम नहीं लिया गया है, केवल नायक पद से उस का निर्देश किया गया है। मध्य तुर्कीस्तान में उपलब्ध अश्वघोष के विच्छिन्न नाटकों में से एक में और हर्ष के नागानन्द में भी ठीक यही बात दृष्टिगोचर होती है। प्रोफैसर ल्यूडर्स का विचार है कि नागानन्द के रचयिता ने जान बूझ कर इस आर्षता का अनुकरण किया है।

प्राकृत—चारुदत्त की प्राकृत मृच्छकटिक की प्राकृत की अपेक्षा अधिक प्राचीन प्रतीत होती है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जावेगी—

चारुदत्त	**मृच्छकटिक**
गेहं गच्छिअ जाणामि	*गेहं गदुअ जाणामि*
वअं (सं०—वयम्)	*अम्हे ।*

तुवं (सं०—त्वम्)	*तुमं ।*
तव गेहं पविट्ठा	*तुह गेहं पविट्टा ।*
इद तस्स गेहं	*वामदो तस्स घलं ।*

इस के अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि मृच्छकटिक में अनेक देशी शब्दों का प्रयोग किया गया है किन्तु चारुदत्त में शुद्ध तत्सम और तद्भव शब्द आते हैं। मृच्छकटिक में प्रयुक्त कुछ देशी शब्द यहाँ पर उद्धृत किए जाते हैं—छिविअ (हिन्दी, छूना), ढक्केहि (हि०, ढकना) । मृच्छकटिक में 'खोलने' के लिए 'उड्ढेहि' शब्द आया है किन्तु चारुदत्त में 'अपावृ' धातु के शुद्ध तद्भव का प्रयोग किया गया है।

छन्दोरचना

मृच्छकटिक का पद्यबन्ध चारुदत्त की छन्दोरचना की अपेक्षा हमेशा प्रशस्यतर है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं

चारुदत्त	मृच्छकटिक
(१) *यथान्धकारादिव दीपदर्शनम् ।*	*घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम् ।*

यहाँ यथा और इव के कारण पुनरुक्ति दोष है जो मृच्छकटिक ने हटा दिया है।

(२) *यो याति दशां दरिद्रताम् ।*	*यो याति नरो दरिद्रताम् ।*

दशां दरिद्राम् तो कदाचित् ठीक था परन्तु दशां दरिद्रतां भद्दा है।

(३) *क्लिन्नखर्जूरपाण्डुः (इन्दुः)।* *कामिनीगण्डपाण्डुः।*

चारुदत्त की उपमा मौलिक और असंस्कृत है; मृच्छकटिक की परिष्कृत और साधारण है।

विषाणकोटीव निमज्जमाना- *तीक्ष्णं विषाणाग्रमिवावशिष्टम्।*

व्याकरण के अनुसार परस्मैपदी प्रयोग होना चाहिए।

शौर्यं न कार्कश्यता *चौर्यं न शौर्यं हि तत्।*

इन उदाहरणों से स्पष्ट ही है कि चारुदत्त की छन्दोरचना के दोषों को मृच्छकटिक में दूर किया गया है।

नाटकीय घटनाएं—घटनाओं के संकलन और चुनाव में मृच्छकटिक के रचयिता ने विशेष उत्कर्ष प्रदर्शित किया है। 'चारुदत्त' का आरम्भ विदूषक के स्वगत से होता है और उस के उपरान्त चरित्रनायक चारुदत्त उस के साथ अपनी निर्धनता पर सम्भाषण करता है। यह सम्भाषण बाहर गली में वसन्तसेना के प्रविष्ट होने से अकस्मात् पर्यवसित होता है। मृच्छकटिक में घटना-सामञ्जस्य चारुदत्त के निम्नलिखित आलाप से रमणीयतर बन गया है—"*भवतु, तिष्ठ तावद् अहं समाधिं निर्वर्तयामि*"—बहुत अच्छा, जरा ठहरो, मैं समाधि लगा लूं। चारुदत्त के ये शब्द घटनाओं के सामयिक सम्बन्ध की सराहनीय समायोजना करते हैं। नाटककार यहाँ पर इस बात को सूचित करता है कि अगला दृश्य, जिस में शकार का प्रणयोपहार, वसन्तसेना से सरोष उस का प्रत्याख्यान और

आखिर उस के हाथ से भाग निकलना, संघटित होते हैं, उस समय प्रादुर्भूत होता है जब चारुदत्त समाधि लगा रहा है। उस की समाधि समाप्त होती है—*वयस्य, समाप्तजपोऽस्मि*—कि इतने ही में वसन्तसेना भी द्वार पर आ पहुँचती है। चारुदत्त में सज्जलक का मदनिका को ज़ोर से पुकारना तर्क-सम्मत नहीं—यह दूषण मृच्छकटिक में दूर किया गया है।

सुकथंकर महाशय ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि चन्द्रोदय और चन्द्रास्त के वर्णन में चारुदत्त में समय-विषयक विप्रतिपत्ति है और मृच्छकटिक में यह दोष दिनों का विशेष निर्देश न कर के दूर किया गयाहै।

क्या ये भिन्नताएँ विना कारण हैं? चारुदत्त को पूर्वकालीन मानने में उपर्युक्त सब भिन्नताओं का सपरितोष समाधान हो जाता है। प्रत्युत मृच्छकटिक से चारुदत्त का प्रादुर्भाव युक्ति-सम्मत नहीं। यदि दोनों ही की उत्पत्ति किसी और मूल-ग्रन्थ से मानें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि चारुदत्त में ही उस को अधिक सुरक्षित रखा गया है।

——:o:——

दिङ्नाग

चतुर्भाणी के प्रकाशक श्री एम० रामकृष्ण कवि और एस० के० रामनाथ शास्त्री ने हाल ही में कुन्दमाला नाम के एक पूर्वकालीन नाटक को प्रकाशित किया है, जिस का रचयिता उन्होंने बौद्ध-कवि दिङ्नाग बतलाया है। मैसूर के राजपुस्तकालय से उन को जो हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध हुई हैं उन की प्रस्तावना में कवि का नाम दिङ्नाग और उस की निवास-भूमि अरारालपुर दिए गए हैं, किन्तु तंजौर के राजपुस्तकालय की प्रतियों में केवल अन्त में कवि और उस के निवास स्थान के नाम मिलते हैं जो उक्त नामों से बिल्कुल भिन्न हैं—कवि धीरनाग और निवास-स्थान अनूपराध। अब यह प्रश्न उठता है कि वस्तुतः कौन इस नाटक का रचयिता है। बल्लभदेव की सुभाषितावली की हस्तलिखित प्रति में इस नाटक का दूसरा छन्द दिङ्नाग के नाम से उद्धृत किया गया है। साहित्यदर्पण आदि अलङ्कार-ग्रन्थों में कुन्दमाला के अवतरण भी मिलते हैं। प्राकृत आलापों की विशेषताओं के आधार पर इस का समय चौथी और पाँचवीं शताब्दी के अन्तर्गत माना गया है, और बल्लभदेव के उद्धरण से दिङ्नाग ही उस का रचयिता सिद्ध किया गया है।

प्रोफ़ैसर उई (Prof. Ui) का ख़याल है कि दिङ्नाग पाँचवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में विद्यमान था। श्रीरामकृष्ण कवि और रामनाथ शास्त्री ने कुछ उल्लेखों के आधार पर दिङ्नाग को कालिदास का समकालीन सिद्ध करने का यत्न किया है।

प्रोफैसर उई दशपदार्थी की भूमिका में लिखते हैं कि दिङ्नाग पाँचवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हुआ होगा। दिङ्नाग का यह समय तत्कालीन उल्लेखों से परिपुष्ट होता है। लोकविश्रुत टीकाकार मल्लिनाथ ने मेघदूत के—

"स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं ।
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥"

इस पद्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि कालिदास ने इस में बौद्ध कवि दिङ्नाग का परिहास सूचित किया है। इस पर कुछ आधुनिक विद्वानों ने आपत्ति की है। किन्तु मल्लिनाथ के कथन की पुष्टि ग्यारहवीं शताब्दी के टीकाकार दक्षिणावर्तनाथ ने की है। इस के अतिरिक्त और भी प्राचीन उल्लेख मिलते हैं जिन से यह सिद्ध होता है कि दिङ्नाग पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में विद्यमान था।

कुन्दमाला—प्रथम अङ्क में सीतादेवी के निर्वासन का वर्णन आता है। क्षुद्राशय व्यक्तियों ने उस के विमल चरित्र पर शङ्का की है। वे समझते हैं राम को यह उचित नहीं था कि वह सीता को, रावण के घर में चिर-प्रवास के अनन्तर, ग्रहण करता। राम ने देखा, यह तो घोर अनर्थ हुआ चाहता है—शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल इक्ष्वाकु-वंश पर कलङ्क-कालिमा का टीका लग रहा है! सीता एक साध्वी स्त्री है, मनस्विता और सद्भावना की मूर्ति है, उस का हृदय किसी प्रकार कलुषित

नहीं, किन्तु इस से क्या ? लोकापवाद के सामने इन बातों का क्या मूल्य ? इस कलङ्क से बचने का यही एक उपाय है कि सीता का परित्याग किया जाए, फिर चाहे इस से अन्तरात्मा को कितनी ही वेदना क्यों न हो। किन्तु यह दारुण कर्म कैसे करना होगा ? सीता राम से भागीरथी का दर्शन करने की इच्छा प्रकट करती है; उस को क्या मालूम कि इस तरह वह स्वयं अपने लिए विपत्ति का आह्वान कर रही है । खैर, राम को अवसर मिला और रथ सजवा कर सुमन्त्र और लक्ष्मण के साथ उस निरपराधिनी अबला को वन के लिए विदा किया । यही दृश्य इस समय हमारे सामने है। गंगा का तट दृष्टि-पथ में आता है। पास खड़ा सघन वन है। मन्द मन्द बयार चल रही है। उधर हंसों का कलरव सुनाई देता है। वृक्षों की घनी छाया इन पथिकों का आतिथ्य कर रही है। कुछ देर विश्राम करने के बाद सीता की थकावट दूर होती है तो लक्ष्मण सहसा पैरों पर पड़ कर और हृदय कड़ा कर के उस को यह अनिष्ट समाचार सुनाता है कि राम ने उसे त्याग दिया है। सीता का हृदय धड़कने लगता है, उस का सिर घूमने लगता है, आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है, और अन्त में उसे मूर्छा आने लगती है। लक्ष्मण के हृदय पर जो बीत रही है उसे वही जानता है। आखिर सीता को राम का सन्देश दे कर और उस से प्रतिसन्देश लेकर, विप्रलाप करता हुआ वह वहाँ से विदा होता है। वाल्मीकि मुनि को जब यह ख़बर मिलती है तो वे सीता के पास पहुँचते हैं, उस करुण-मूर्ति को अपने

आश्रम में ले जाते हैं और उस को हर प्रकार से आश्वासन देते हैं। आश्रम को चलते समय सीता भगवती भागीरथी से प्रार्थना करती है कि सकुशल पुत्र-प्रसव होने पर प्रतिदिन कुन्द-पुष्पों की माला तुम्हें भेंट करूंगी।

दूसरे अङ्क में दो तपस्विनियों के मुख से हम सुनते हैं कि सीता ने कुश और लव नाम के सर्वगुण-सम्पन्न युगल पुत्रों को जन्म दिया है। इस समय वे महर्षि वाल्मीकि से उन की बनाई हुई रामायण पढ़ रहे हैं। उधर राम यज्ञ की तय्यारी कर रहे हैं। नैमिशारण्य में सभी ऋषि महर्षि एकत्रित हुए हैं। भगवान् वाल्मीकि के पहुँचने की देर है। सीता की वियोगिनी मूर्ति फिर सामने आती है। उस की राममयजीविता और महानुभावता का रमणीय चित्र मानस-पट पर उतर आता है हमारी आकुल दृष्टि उस देवी को देख देख कर आदर-भाव से भर जाती है, हृदय उस के दुःख से विह्वल हो उठता है। नेपथ्य में घोषणा होती है कि राम के अश्वमेध में सभी ऋषि मुनि पहुँच गए हैं, केवल वाल्मीकि अभी नहीं पधारे हैं, उन्हीं की प्रतीक्षा की जा रही है। सीता कुश और लव के प्रस्थान की तय्यारी करने निकलती है।

तीसरे अङ्क में हमें एक तपस्वी के मुख से सूचना मिलती है कि सीता और कुश लव नैमिशारण्य में पहुँच गए हैं। दूर पर राम और लक्ष्मण आते हुए दिखाई देते हैं। राम सीता के कारण अत्यन्त शोकाकुल हैं। लक्ष्मण अपनी अधन्यता पर विचार कर रहे हैं। पास ही गङ्गा की तरङ्गों में टक्कर खाती

हुई एक कुन्दमाला दिखाई देती है । किनारे लगने पर राम उसे निहारते हैं। उस के रचना-कौशल को देख कर उन्हें निश्चय हो जाता है कि सीता ने उस को गूंथा होगा। नदी के किनारे किनारे आश्रम की ओर चलते हैं। थोड़ी दूर पर रेतीली भूमि में पैरों के चिन्ह नज़र आते हैं जो आगे चल कर सख्त ज़मीन के मिलने से प्रणष्ट हो जाते हैं। वहीं एक लता-कुञ्ज की छाया में बैठे बैठे राम अपने हृदय के उद्गारों को प्रकट करते हैं। सीता की याद, उस को शोचनीय अवस्था, उन्हें विह्वल कर रही है। उधर सीतादेवी, जो पूजा के लिए फूल चुनने आई थीं, इस रोमाञ्चकारी दृश्य को निहारती जाती हैं। उन का अगाध हृदय बाढ़ की नदी की भाँति उमड़ आता है। आगे बढ़ना चाहती हैं किन्तु कुछ सम्हल कर अपने मन में सोचती हैं, यह क्या कर रही हूँ? यहाँ देर तक रहना ठीक नहीं। कहीं कोई देख न ले। चलूँ, चल कर कुश और लव की सुध लूं। अपराह्न का समय है, वाल्मीकि का भेजा हुआ एक ऋषि राम और लक्ष्मण का स्वागत करने वहाँ आता है और उन से आश्रम में चलने की प्रेरणा करता है।

चौथे अङ्क में कुछ अतिमानुषिक घटनाएँ सामने आती हैं। आश्रम में आई हुई तपस्विनियों की सुविधा के लिए वाल्मीकि ने अपने प्रभाव से आश्रम की बावड़ी में ऐसी आभिचारिकी शक्ति फैलाई है जिस से उस में अवगाहन करती हुई स्त्रियों पर पुरुष की दृष्टि न पड़े। सीता उस बावड़ी के किनारे खड़ी हुई अपना मनोविनोद कर रही हैं। नैमिशारण्य की

अपूर्व शोभा को निहारते हुए उद्विग्नमानस राम भी वहाँ पधारते हैं। सीता के वियोग में आँसू बहा बहा कर उन की आँखें पहिले ही पीड़ित हैं, आश्रम के धुएँ से और भी व्यथित हो उठती हैं। शीतोपचार की इच्छा से बावड़ी में मज्जन करने उतरते हैं। उस में सीता के प्रतिबिम्ब को देख कर हर्ष और विस्मय से उन की विचित्र हालत हो जाती है। सोचते हैं, हाय! यह कैसी विडम्बना है कि प्रतिमासीता तो स्पष्ट नज़र आती है किन्तु वह स्वयं नहीं दीखती। आखिर, सीता का उत्तरीय दृष्टि-गोचर होता है तो उसे खींच लेते हैं और अपने उत्तरीय को उतार कर उसे पहिन लेते हैं। सीता राम के उत्तरीय को लेती है किन्तु राम को सिवाय उस के अन्तर्हित होने के दृश्य के और कुछ नहीं दिखाई देता। सन्ध्या का समय हो गया है। सीता वहाँ से विदा होती है। विदूषक आ कर राम से निवेदन करता है महाराज, आश्रम का अद्भुत रहस्य ले कर आपके पास आया हूँ। सुना है देवांगना तिलोत्तमा सीता का वेश धारण कर के आप की परीक्षा लेना चाहती है। राम समझते हैं, आह! यह सब इस मायाविनी ही ने मुझे अपना कौतुक दिखाया है।

पाँचवें अंक में कुश और लव राम के सामने आते हैं। उन की आकृति पर मुग्ध हो कर राम उन्हें हृदय से लगाते हैं। चिर-सम्भाषण के अनन्तर राम का हृदय कुतूहल और विस्मय से आकुल हो जाता है। हाय! इन के माता पिता भी हमारे ही जैसे मन्दभागी हैं, इन की माता सीता की भाँति चिर-विरहिणी है, अपने पिता का ये नाम तक नहीं जानते, और अत्यन्त

आश्चर्य की बात तो यह है कि ये भी सूर्यवंशी ही हैं! इतने ही में नेपथ्य से आवाज़ आती है—कुश और लव में से यहाँ कोई है? तुम्हें इस बात की भी कोई सुध है कि महाराज को रामायणीय कथा सुनानी है।

छठे अंक में कुश और लव राम को बाल्मीकि-रामायण सुनाते हैं। 'हा विधे! यह तो मेरी ही दुःख-कहानी है!' आखिर इसी कथा-प्रसंग से राम की सीता से भेंट होती है। उन्हें सूचना मिलती है कि कुश और लव उन्हीं के यमज पुत्र हैं। भगवती पृथ्वी अपने दिव्य स्वरूप में प्रादुर्भूत हो कर सीता के सतीत्व का साक्ष्य देती है। फिर कुश और लव को युवराज-पद पर अभिषिक्त किया जाता है और अन्त में यह दुःख-कहानी भी समाप्त हो जाती है। सुख और समृद्धि फिर से आदर्श दम्पती राम और सीता के चरणों पर लोटने लगते हैं।

दिङ्नाग की शैली और नाटकीय कला

यद्यपि कुन्दमाला अतिमानुष चित्रणों से खाली नहीं है तथापि सीता का चरित्र उस में अत्यन्त मनोहरता और स्वाभाविकता के साथ परिस्फुट हुआ है। वह भवभूति की सीता की भाँति निरी 'धारणा' नहीं है, मानव-जीवन से असम्पृक्त नहीं है। दिङ्नाग की सीता इतनी आत्मचिन्ताशून्य नहीं कि उस के सताये हुए हृदय के उच्छ्वासन वहीं अन्तर्हित हो जावें, वाणी के द्वारा अभिव्यक्त ही न हो सकें। क्या राम को यह उचित था कि इस तरह मुझे अपने हृदय से दूर करते? आह! क्या सीता इतनी क्षुद्रहृदया है कि उस को राम के राज्य में रहने

के लिए स्थान तक नहीं। लक्ष्मण के मुख से राज-शासन को सुनते ही उसे मूर्छा आ जाती है। कुछ सचेत हो कर कहती है—*वत्स लक्ष्मण, किं गतोऽसि ?* उस की दुरवस्था को देखकर हृदय उमड़ आता है। लक्ष्मण उसे प्रतिसन्देश देने का आग्रह करता है तो वह एक स्वाभिमानिनी आर्यवधू की भाँति उत्तर देती है—'*तथा निष्ठुरो नाम सन्दिश्यत इत्यप्रतिहतवचनतैवा लक्ष्मणस्य, न सीताया धन्यत्वम्*'—ऐसे निष्ठुर के लिए जो मैं सन्देश देना चाहती हूँ, यह कुछ मेरा सौभाग्य नहीं किन्तु लक्ष्मण की बात की अटलता। अपनी स्थिति पर खीझ कर वह कहती है—'*अहो अविश्वसनीयता प्रकृतिनिष्ठुरभावानां पुरुष-हृदयाणाम्*' स्वभाव ही से निष्ठुरभावपूर्ण पुरुष-हृदय की अवि-श्वसनीयता की भी कुछ सीमा है कि जिस के कारण मेरी आज ऐसी दुर्गत हो रही है। किन्तु साथ ही वह इतनी आत्मपरायणा नहीं है कि आवेश में आ कर उचितानुचित का विचार ही भूल जाए। उस को सहसा स्मरण हो आता है, राम ने मुझे देश से निकाल दिया है तो क्या हुआ ? हृदय से तो अलग नहीं किया। क्या वे इस बात से स्वयं दुःखी नहीं हैं ? लक्ष्मण के प्रति सीता का असाधारण वात्सल्यभाव प्रकट होता है। चारों ओर घोर निर्जन वन है, सन्ध्या हुआ चाहती है, देखिए उस के उदार हृदय से कैसे ममतापूर्ण वचन निकलते हैं—"*वत्स लक्ष्मण, आसन्नास्तमयः सूर्यः। दूरे चेतो मानुषसम्पातः। उड्डीनाः पक्षिणः। सञ्चरन्ति श्वापदाः। गच्छ, न युक्तं परिलम्बितुम्।*"—वत्स लक्ष्मण,

सूर्य अस्त होने वाला है, इस वन के निकट मनुष्य-समागम सम्भव नहीं, पक्षियों ने बसेरा ले लिया है, वन्य जन्तु बाहर फिरने लग गए हैं, अब तुम जाओ, विलम्ब करना उचित नहीं। सासुओं के प्रति उस की महती आस्था, और आश्रम-धर्मों में तत्परता सूचित होती है।

अन्यान्य चरित्र स्वयं तो इतने विकसित नहीं हुए हैं किन्तु प्रस्तुत नाटक के प्रधान—करुण और विप्रलम्भ—रस को परिपुष्ट करते हैं और सीता के पुण्य-चरित्र को और भी चमत्कृत करते हैं।

——:o:——

कालिदास

कालिदास के तीन नाटक

कालिदास का सब से पहिला नाटक मालविकाग्निमित्र है। इस में विदिशा के राजा अग्निमित्र और विदर्भ देश की राजकुमारी मालविका की प्रणय-कथा है। मालविका को राज्य-विप्लव के कारण विदर्भ से भाग कर विदिशा को जाना पड़ता है। वहाँ वह रानी धारिणी की सेविका बन कर रहती है और उसी के प्रबन्ध से गणदास नामी एक प्रसिद्ध नट से नृत्य-कला में निपुणता प्राप्त करती है। मालविका के रूप-लावण्य से शंकित हो कर रानी उस पर राजा की दृष्टि नहीं पड़ने देती, किन्तु एक दिन राजा उस के चित्र को देखता है और उस की उत्कंठा बढ़ने लगती है—उस के नेत्र मालविका की दर्शन-पिपासा से तृषित हो उठते हैं। परन्तु भेंट होना सुलभ नहीं! इसी बीच गणदास और उस का प्रतिस्पर्धी नट यह निर्णय करवाने के लिए कि दोनों में कौन श्रेष्ठ है राजा के पास आते हैं। राजा उन को मालविका की पक्षपातिनी कौशिकी के पास भेजता है। वह निर्णय करती है कि जिस का शिष्य नृत्य-कला में बढ़ कर निकलेगा वही श्रेष्ठ माना जावेगा। गणदास अपनी शिष्या मालविका को ले कर राजदरबार में उपस्थित होता है। मालविका अपने नृत्य से सब को मोहित कर देती है और राजा उस के रूप पर रीझ कर अपने आप को भी भूल जाता है। बहुत से कूट प्रयोगों के उपरान्त अन्त में

यह प्रणय-कथा सफलतापूर्वक समाप्त हो जाती है। विदर्भ से राजदूत विजय का समाचार ले कर आते हैं, इसी समय यह भेद भी खुल जाता है कि मालविका विदर्भ की राजकुमारी है। उत्तर से अग्निमित्र का पिता पुष्यमित्र यह शुभ समाचार भेजता है कि राजकुमार वसुमित्र ने अश्वमेध के घोड़े की रक्षा करते हुए सिन्धु नदी के निकट यवनों पर विजय प्राप्त की है। इस विजय की खुशी में रानी धारिणी मालविका से विवाह करने की अनुमति राजा को दे देती है। छोटी रानी इरावती भी आखिर विवश हो जाती है।

इस में कहीं पर भी रानियों के प्रति अग्निमित्र की स्वेच्छाचारिता प्रकट नहीं होती। नायक धीरललित है। इस प्रणय-नाटक में राजा का प्रधान सहायक विदूषक है।

निर्माण-कला के अनुसार मालविकाग्निमित्र के बाद विक्रमोर्वशी का नम्बर है। यह राजा पुरूरवा और सुरसुन्दरी उर्वशी की प्रेम कहानी है। प्रस्तावना के अनन्तर ही अप्सराओं का करुण क्रन्दन सुनाई देता है। कैलाश पर्वत से लौटते समय उन की प्रिय सखी उर्वशी को एक राक्षस हर ले गया है। यह सुनते ही राजा अपने रथ पर चढ़ कर उस के पीछे भागता है और उर्वशी को उस से छुड़ा लाता है। हेमकूट शिखर पर पहुँचने के कुछ ही देर बाद स्वर्ग से गन्धर्वराज चित्ररथ आता है—पुरूरवा और उर्वशी दोनों ही एक दूसरे पर मुग्ध हो रहे हैं—खिन्न-हृदया उर्वशी चित्ररथ के साथ इन्द्र-लोक को जाती है। राजा के मुख पर उदासी छा जाती है।

रानी की एक चतुर परिचारिका विदूषक से इस उदासी के कारण का पता लगाती है ।

राजा प्रेमातुर हो कर विदूषक के साथ प्रमदवन में फिर रहा है। इतने में चित्रलेखा के साथ उर्वशी आती है और दूर ही से एक प्रणय-पत्र लिख कर राजा के सामने डाल देती है। जब उस को निश्चय हो जाता है कि पुरूरवा भी उसी की तरह उस के विरह से पागल हो रहा है तो वह बड़े प्रेम से उस के निकट आती है किन्तु आह! पीछे से आवाज़ आती है—

"चित्रलेखे ! त्वरय उर्वशीम्—

"मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्त्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥"

चित्रलेखे, जल्दी उर्वशी को ले आ ! भरत मुनि ने शृंगार आदि आठ रसों से युक्त जिस नाटक को तुम लोगों के लिए बनाया है उस के मनोहर अभिनय को आज देवेन्द्र लोकपालों सहित देखना चाहते हैं।

इधर विदूषक की असावधानी से प्रेमपत्रिका रानी के हाथ लगती है और वह राजा से इतनी रुष्ट हो जाती है कि किसी प्रकार मनाये नहीं मानती।

तीसरे अङ्क के आरम्भ में हम भरत के शिष्यों के मुख से सुनते हैं कि उर्वशी ने लक्ष्मी का पार्ट अच्छा नहीं खेला। जब मेनका ने जो वारुणी का पार्ट खेल रही थी उस से पूछा कि केशव और लोकपालों सहित जो यहाँ पर तीनों लोकों

के पुरुष एकत्रित हुए हैं इन में तुम्हारा प्रेम किस पर है तो उस के मुख से पुरुषोत्तम के बदले पुरूरवा निकल पड़ा। इस पर भरत मुनि ने उस को अभिशाप दिया किन्तु इन्द्र के अनुग्रह से उस को यह आज्ञा हुई कि तब तक तुम अपने प्रेमी के साथ दुनिया में सुखोपभोग करो जब तक वह तुम्हारे पुत्र का मुख न देखे। इस के उपरान्त हम देखते हैं कि राजा पुरूरवा रानी को मनाने की फ़िक्र में है। चन्द्ररोहिणीसंयोग उत्सव में वह उस का साथ देता है। उर्वशी अपनी सखी चित्रलेखा के साथ छिप कर राजा के इस सद्व्यवहार को देख कर मन ही मन संक्षुब्ध होती है। रानी के चले जाने पर वह राजा से मिलती है और चित्रलेखा वहाँ से विदा होती है।

चौथा अङ्क मनोहारिणी गीतियों से भरा है। पुरूरवा और उर्वशी कैलाश पर्वत के निकट फिर रहे हैं। उर्वशी ईर्षावश कुमार-वन में, जहाँ जाना स्त्रियों के लिए निषिद्ध है, प्रवेश करती है और भरत मुनि के अभिशाप के कारण तत्काल ही एक लता में परिवर्तित हो जाती है। राजा शोक से उन्मत हो कर सर्वत्र उस को ढूँढ़ता है। वर्षाकाल के नूतन मेघ को देख कर उस को संशय होता है कि यह कोई राक्षस है जो उस की प्रियतमा को लिए भाग रहा है।

"आः, दुरात्मन् रक्षः! तिष्ठ तिष्ठ।

मम प्रियतमां आदाय क्व गच्छसि?"

'खड़ा रह दुष्ट राक्षस, मेरी प्रियतमा को ले कर कहाँ भागा जाता है ?' किन्तु विचार करने पर उसे मालूम होता है कि यह बादल है, राक्षस नहीं।

"नव-जलधरः सन्नद्धोऽयं, न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं, न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न वाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्, प्रिया मम नोर्वशी ॥"

आह ! यह तो युद्ध के लिए सुसज्जित हुआ नूतन मेघ है, मिथ्याभिमानी राक्षस नहीं; यह दूर तक फैला हुआ इन्द्र धनुष है, वास्तविक धनुष नहीं; यह तीव्र मूसलाधार पानी वर्ष रहा है, बाणों की बौछार नहीं; और यह तो सुवर्ण के समान उद्दीप्त बिजली है, मेरी प्यारी उर्वशी नहीं।

इसी तरह वह वन के पशु पक्षियों पर्वत नदी आदि चेतन और अचेतन सभी को सम्बोधन करके उन से उर्वशी का पता पूछता है। अन्त में उसे ख्याल आता है कि मानो वह उस को नदी के रूप में देख रहा हो !

"तरंगभ्रूभंगा क्षुभितविहगश्रेणिरसना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथा जिह्मं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहमाना परिगता ॥"

असहनशीला उर्वशी निस्सन्देह इसी नदी के रूप में परिणत हो गई है; पानी की तरङ्ग ही उस के भ्रूभङ्ग हैं, कल्लोल करते हुए पक्षियों की पंक्ति उस की कटि-मेखला है, पानी का झाग कोप से शिथिल हुए उस के वस्त्र हैं, नदी की टेढ़ी चाल उस की लड़खड़ाती हुई चाल है।

आखिर संगमनीय मणि के स्पर्श से लता में परिणत हुई उर्वशी जी उठती है।

पाँचवें अङ्क में राजा के उर्वशी के साथ अपनी राजधानी को लौट जाने पर चन्द्रोत्सव मनाया जाता है। इसी बीच एक गिद्ध मांस के धोखे से 'संगमनीय मणि' उठा ले जाता है किन्तु वह एक युवा धनुर्धारी के तीर से छिद कर पृथ्वी पर गिर पड़ता है। तीर पर लिखा हुआ है—"पुरूरवा और उर्वशी के पुत्र आयुस् का तीर" राजा को अपने पुत्र होने की कोई खबर न थी—वह आश्चर्य में पड़ा हुआ था कि इतने में एक स्त्री आयुस् को ले कर वहाँ पहुँचती है। यह देख कर उर्वशी के हृदय को दुःख होता है। क्योंकि अब उस को अपने पति से अलग होना पड़ेगा। परन्तु नारद मुनि यह शुभ समाचार ले कर वहाँ पहुँचता है कि देवता और दैत्यों के बीच युद्ध हो रहा है, इस लिए इन्द्र ने उन को सहायता के लिए बुलाया है और यह भी कहा है कि इस सहायता के बदले तुम जन्म भर उर्वशी का साहचर्य-सुख भोगो।

कालिदास का अन्तिम और श्रेष्ठ नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल है। शाकुन्तला में कवि ने अपनी कला की पराकाष्ठा दिखलाई है।

ग्रीष्म ऋतु का आरम्भकाल है। सूत्रधार ने नटी को चेतावनी दी है कि आज विद्वन्मण्डली के विनोद के लिए कालिदास का बनाया हुआ "अभिज्ञानशाकुन्तल" नाम का नया नाटक खेला जावेगा। आरम्भ में नटी एक मनोहर गीत गाती है। नट कहता है—

"तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा॥"

तुम्हारी मनोहर रागपरिवाहिनी गीति ने बलात्कार मेरे मन को ऐसे ही हर लिया है जैसे तीव्रगामी कृष्ण-सार मृग से यह राजा दुष्यन्त हरा जा रहा है।

राजा दुष्यन्त मृग का पीछा करता हुआ कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँचता है। वहाँ उस को चेतावनी मिलती है कि आश्रम के मृगों को मारना राजोचित कार्य नहीं है। रथ से उतर कर वह कण्व ऋषि से मिलने की इच्छा प्रकट करता है। कण्व ऋषि आश्रम में नहीं हैं किन्तु अपनी धर्मपुत्री शकुन्तला को अतिथि-सत्कार के लिए नियुक्त कर गए हैं। राजा ने कहा—अच्छा उसी को चल कर मिलें। शकुन्तला अपनी सखी प्रियंवदा और अनुसूया के साथ वृक्ष-सेचन कर रही है। एक भौंरा आ कर उस को खिझाता है। वह उन से कहती है—सखियो, इस अविनीत भौंरे से मेरी रक्षा करो। वे उत्तर देती हैं—हम रक्षा करने वाली कौन हैं, राजा दुष्यन्त को पुकार जिन के ऊपर आश्रम की रक्षा का भार है। राजा छिप कर सब कुछ सुन रहा था और ऐसे ही सुअवसर की प्रतीक्षा कर रहा

था। वह झट आगे बढ़ता है। सखियों से वह पता लगाता है कि शकुन्तला महर्षि विश्वामित्र और मेनका की पुत्री है और योग्य वर के मिलने पर उस का विवाह होगा। राजा उस पर मुग्ध हो जाता है और शकुन्तला को भी उस का प्रेम सताने लगता है। इतने में खबर मिलती है कि एक जङ्गली हाथी आश्रम में उपद्रव मचा रहा है। राजा को आश्रम की रक्षा के लिए वहाँ से जाना पड़ता है।

दूसरे अङ्क में हम देखते हैं कि राजा का विदूषक मृगया के कष्टों से खिन्न हो रहा है। राजा आज्ञा देता है कि अब शिकार खेलना छोड़ दिया जाए—विदूषक को प्रसन्न करने के लिए नहीं किन्तु शकुन्तला के प्रेम में विह्वल हो कर। अपने हृदय के उद्गारों को वह विदूषक पर प्रकट करता है जो राजा के साथ सहानुभूति न दिखला कर उस की बातों को हंसी में उड़ा देता है। किन्तु राजा को इस बात से बहुत परितोष होता है कि आश्रमवासियों ने आश्रम की रक्षा के लिए उस से कुछ दिन वहीं रहने का आग्रह किया है। विदूषक को वह एक उत्सव में सम्मिलित होने के लिए राजधानी को भेज देता है। इस भय से कि कहीं उस का लघुहृदय और वातुल मित्र सब बातें जा कर प्रकाशित न कर दे, राजा उस से कहता है—

"वयस्य, ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः। पश्य,

"क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं परमार्थेन न गृह्यतां वचः॥

वयस्य, शकुन्तला के प्रेम से नहीं किन्तु ऋषियों के गौरव के कारण मैं आश्रम में जा रहा हूँ। तुम से मैं ने जो कुछ बातें की हैं वे सब परिहास के लिए की गई हैं; कहीं तुम उन को सच्ची ही न समझ बैठना। भला उस का और हमारा प्रेम कैसे हो सकता है—कहाँ हम, और कहाँ हरिणों के बच्चों के साथ पली हुई रतिरस से अनभिज्ञ यह तपस्विकन्या।

तीसरे अङ्क में विरहिणी शकुन्तला दिखाई देती है। वह काम-ज्वर से पीड़ित है। अनेक शीतलोपचार किए जाते हैं किन्तु सब व्यर्थ। बीमारी का पता लगे तो औषधियां अपना असर दिखावें। सखियों के आग्रह करने पर अन्त में वह अपने हृदय की बात को उन पर प्रकट करती है। उन्हीं के कहने से दुष्यन्त के लिये एक प्रणय-पत्र लिखती है। दुष्यन्त छिप कर इन की सब बातों को सुन लेता है और निकट आ कर अपने प्रेम का परिचय देता है।

अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको
विशंकसे भीरु यतोऽवधीरणाम् ।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ॥

हे कातरशीले, जिस से तू अवहेलना की आशङ्का कर रही है वही मैं तेरे संगम के लिए उत्कण्ठित हृदय से सामने ही हाज़िर हूँ; अर्थी को लक्ष्मी मिले या न मिले किन्तु जिस को वह स्वयं हृदय से चाहती है वह जन उस के लिए कैसे दुर्लभ हो सकता है। तुम व्यर्थ ही अपने मन में शङ्कित हो रही हो।

इस के उपरान्त गौतमी शकुन्तला के स्वास्थ्य का पता लगाने के लिए वहाँ आती है और उस को अपने साथ ले जाती है।

अगले अङ्क के आरम्भ में हम को प्रियंवदा और अनुसूया की बातों से मालूम होता है कि राजा अपनी राजधानी को चला गया है और तब से फिर शकुन्तला की उस ने कोई सुध नहीं ली। कण्व ऋषि आश्रम को लौटने वाले हैं। बाहर से किसी के पुकारने की आवाज़ आती है किन्तु प्रेम-व्यथा से विह्वल शकुन्तला उस को नहीं सुन सकती। सखियों ने देखा कि दुर्वासा मुनि उस को शाप दे रहे हैं—

आः अतिथिपरिभाविनि,

"विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥"

आह, अतिथियों का तिरस्कार करने वाली, जिस के प्रेम में तू इतनी डूबी हुई है कि तू मुझ तपोधन को आया हुआ नहीं जानती, वह स्मरण दिलाने पर भी तुम्हारा स्मरण नहीं कर सकेगा, जिस प्रकार बावला आदमी अपनी पहिले कही हुई बातों को याद नहीं कर सकता! सखियों के अनुनय विनय करने पर दुर्वासा कहता है कि राजा की दी हुई निशानी (अभिज्ञान) को दिखाने पर राजा उसे पहचान जावेगा।

दुर्वासा का अभिशाप महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में नहीं है। यह कालिदास की उत्कृष्ट कल्पना का फल है। वस्तुतः इस नाटक का सम्पूर्ण महत्व इसी कल्पना पर निर्भर है। कण्व को प्रत्यय कराने के लिए आकाशवाणी होती है कि गान्धर्व विधि से शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ विवाह हुआ है और वह लोक के कल्याण के लिए गर्भ धारण कर रही है। कण्व ऋषि अपने दो शिष्यों और गौतमी के साथ शकुन्तला को दुष्यन्त के पास भेजता है। विदा होते समय दृश्य बड़ा ही करुण है। ऋषि का वृद्ध हृदय भी पैतृक प्रेम से उमड़ उठता है—

"यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥"

आज शकुन्तला जावेगी इस विचार से मेरा हृदय अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है, कण्ठ आँसुओं का प्रवाह रुक जाने के कारण गद्गद हो रहा है, मन के चिन्ता-ग्रस्त होने से आँखों से कुछ नहीं दीख पड़ता; स्नेह के कारण इतनी बेचैनी तो मुझ वनवासी को हो रही है तो पुत्री के विछोह के नए दुःखों से गृहस्थों को कितनी पीड़ा होती होगी।

वृद्ध कण्व, अपनी सखियों और आश्रम के मृग-छौनों तथा लता विटपों से विदा होते समय शकुन्तला का हृदय भर आता है।

वन के पशु पक्षी और लता वृक्षादि सभी उस के विछोह के कारण कातर हो उठते हैं, अपने अपने व्यापार को भूल कर शकुन्तलामय हो जाते हैं—

"उद्गलितदर्भकवला मृग्यः
परित्यक्तनर्तना मयूराः ।
अपसृतपाण्डुपत्रा
मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥"

मृगियों ने मुख में रखे हुए घास को भी उगल दिया है, मोरों ने नाचना छोड़ दिया है, लताओं से पीले पीले पत्ते गिरते हैं तो ऐसा मालूम होता है मानो वे आँसू बहा रही हैं।

पाँचवें अङ्क में शकुन्तला के प्रत्याख्यान का चित्रण अपूर्व कौशल के साथ किया गया है। राजा शासन-कार्य में व्यग्र है। समाचार मिलता है कि स्त्रियों के साथ कुछ तपस्वी मिलने आए हैं। इधर राजप्रासाद से रानी हंसपदी के गाने का शब्द सुनाई देता है जिस में उस ने भौंरे के मिष राजा को उपालम्भ दिया है। रानी के परितोष के लिए वह विदूषक को भेजता है। और मन ही मन सोचता है कि इष्ट जन का विरह न होने पर भी—शापवश शकुन्तला को वह बिल्कुल भूल गया है—इस गीत के अभिप्राय को समझ कर मेरा मन इतना उत्सुक क्यों हो रहा है। फिर वह स्वयं तपस्वियों का स्वागत करता है। वे उस की धर्म-पत्नी शकुन्तला को ले कर आए हैं।

किन्तु अभिशाप के प्रभाव से उस को यह सब कपट-रचना मालूम होती है। तपस्वी उस के इस असद्व्यवहार से हैरान होते हैं और खूब कोरी कोरी सुनाते हैं। शकुन्तला ने देखा, चुप रहने से काम न चलेगा—इस समय संकोच को छोड़ कर राजा को प्रत्यय दिलाना होगा। उस ने सोचा, राजा की दी हुई निशानी, उस की नाम-मुद्रिका, जब मेरे पास है तो डर किस बात का! *"भवतु । यदि परमार्थतः परपरिग्रहशङ्किना त्वयेवं वक्तुं प्रवृत्तं तदाभिज्ञानेनानेन तवाशंकामपनेष्यामि ।"* बहुत अच्छा यदि सचमुच तुम्हें यह शंका हुई है कि मैं तुम्हारी स्त्री नहीं हूँ और पर-स्त्री ग्रहण करने के दोष से बचने के लिए यह बातें बना रहे हो तो यह लो मैं तुम्हारी शंका दूर किए देती हूँ, यह अपनी दी हुई निशानी लो! किन्तु हाय री निशानी! वह तो पहिले ही प्रणष्ट हो गई! बेसुध शकुन्तला को यह खयाल कहाँ कि अँगूठी तो शचीतीर्थ के जल के अर्पण हो गई! राजा ने मौका पाया। अब तो वह सारी ही स्त्री-जाति पर दोषरोपण करने लगा। किन्तु शार्ङरव भी उत्तर देने में कम नहीं। वह राजा को मुँह तोड़ जवाब देता है और शकुन्तला को उस की चपलता पर कोसता है।

"आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो य-
स्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
परातिसंधानमधीयते यै-
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥"

जिस ने जन्म से ले कर धूर्तता का नाम तक नहीं सुना उस की बात की कोई प्रामाणिकता नहीं; जो परवञ्चना का विद्या की तौर पर अध्ययन करते हैं वे विश्वसनीय भले ही हों।

छठे अङ्क में हमें अँगूठी—अभिज्ञान—के खोए जाने और फिर प्राप्त होने का वृत्तान्त मालूम होता है। शकुन्तला की उँगली से वह शक्रावतारघाट पर छूट गई थी। किसी मच्छमार ने वहाँ पर एक रोहित मछली को पकड़ा जिस के अन्दर उस को वह अभिज्ञान-मुद्रा मिली। वह उसे बेचने जा रहा था कि दैवयोग से पुलिस के कर्मचारियों ने उस को देख लिया। धीवर को डाट डपट दिखा कर शहर का कोतवाल अँगूठी को राजा के पास ले जाता है। राजा दुष्यन्त उसे देख कर हैरान हो जाता है, उस का उपालम्भ करते हुए कहता है—

" कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं
करं विहायासि निमग्नमम्भसि ।"

हे मुद्रिके, तू उन सुन्दर कोमल उँगलियों से युक्त हाथ को छोड़ कर पानी में कैसे डूब गई! फिर कुछ सावधान हो कर स्वयं अपने आप को उपालम्भ का भाजन बनाता है—

" अचेतनं नाम गुणं न लक्षये-
न्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥"

जड़ वस्तु को गुणों की क्या तमीज़? स्वयं चेतन हो कर मैं ने ही प्रियतमा का प्रत्याख्यान क्यों किया? अब तो राजा

के चौबीसों घण्टे शकुन्तला की सोच में कटते हैं। मनोविनोद का केवल एक साधन है—अपने हाथ से खींचे हुए शकुन्तला के रमणीय चित्र को देख कर वह अपने हृदय का भार कुछ हल्का कर सकता है, किन्तु आँखों से लगातार आँसुओं के गिरते रहने से यह भी सम्भव नहीं।

इस के अनन्तर राजा की प्रजावत्सलता का दृश्य हमारे सामने आता है। नाव के डूब जाने से एक सम्पत्तिशाली किन्तु सन्तानहीन वणिक् समुद्र में डूब गया है। अमात्य ने सब कुछ ब्योरा राजा के पास लिख भेजा है। नियमानुसार वणिक् की अशेष सम्पत्ति राजकोश में आनी चाहिए, किन्तु राजा उचित अन्वेषण करवाने पर उस की एक गर्भवती स्त्री को उस धन की स्वामिनी बना देता है। अनपत्यता का कितना दुःख होता है, इस बात का उसे स्वयं अनुभव है—

"अस्मात्परं बत यथाश्रुति संभृतानि
को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति।"

अपने दुःख को व्यक्तिगत न रख कर वह उस से प्रजा के दुःख का अनुमान करता है। उस के संक्षुब्ध हृदय से विश्वजनीन उद्गार निकल आते हैं—

"येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥"

राज्य में यह घोषणा की जाती है कि राजा दुष्यन्त प्रजा के दुःख में साथ देने के लिए हर वक्त तय्यार है। शोकजनित प्रमाद से उस को सचेत करने के लिए इन्द्र का

युद्ध छिड़ा है । उस में राजा दुष्यन्त की सहायता की जरूरत पड़ी है ।

सातवें अङ्क में राजा दुष्यन्त का पराक्रम और उस के प्रति इन्द्र का सन्मान दृष्टिगोचर होता है । स्वर्ग से लौटते समय वह हेमकूट पर्वत पर उतरता है । वहीं महर्षि मारीच के आश्रम में शकुन्तला से उस की भेंट होती है । राजकुमार सर्वदमन से मिलने का दृश्य और शकुन्तला के दुःख भरे उच्छ्वास नितान्त रमणीय और सौष्ठवपूर्ण हैं । भरत-वाक्य में लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक श्रेय का अच्छा संमिश्रण किया गया है ।

कालिदास की नाटकीय कला

नाटकीय कला के विकास के अनुसार स्पष्ट है कि 'मालविकाग्निमित्र' कालिदास की अप्रौढ़ काल की रचना है । स्वभावतः यह रचना सर्वथा उत्कृष्ट नहीं है किन्तु इस से कवि की प्रतिभा का पूर्ण आभास मिलता है—उस का भविष्य महान् है । घटनाओं के सन्निवेश में कुछ कौशल प्रदर्शित किया गया है । राजा को मालविका के दर्शन कराने के लिए विदूषक ने जो चालें खेली हैं वे सब मनोरञ्जन की वस्तु हैं और अग्निमित्र यद्यपि एक कामपीडित नायक प्रतीत होता है तथापि युद्धों और विजयप्राप्तियों के वृत्तान्त समुचित रूप से उस के राजसिक कृत्यों और महान् गौरव का स्मरण दिलाते हैं । रानी धारिणी और इरावती का चरित्रचित्रण बहुत ही प्रभावोत्पादक हुआ है । दोनों के पारस्परिक वैलक्षण्य का सुन्दर सजीव चित्र

उतारा गया है। क्रोध के लिए उचित स्थान होने पर भी धारिणी की चारुशीलता, महानुभावता और उदारता ही प्रकट होती है। किन्तु इरावती अति चण्डशीला और अमर्षणा है—वह निरन्तर छिप छिप कर राजा की चेष्टाओं को देखती रहती है और समय समय पर उस की खूब ही ख़बर लेती है। उसे राजा के उच्च पद और स्वत्वों का कोई ख़याल ही नहीं। स्वयं नायिका का चरित्र अच्छी तरह परिस्फुट नहीं हुआ है किन्तु उस की सखी कौशिकी, जिस को अनेक विपत्तियों के कारण धार्मिक जीवन में प्रवेश करना पड़ा है, एक उदात्त चरित है। वह धारिणी के चित्त को सम्भ्रम में डालती है और उस को सान्त्वना देती है। नृत्य और सर्प के प्रतीकार के विषय में वह प्रमाण है, और स्त्रियों में अकेली वह संस्कृत बोलने वाली है। विदूषक इस नाटक का अत्यावश्यक चरित है। वह राजा का विश्वासपात्र सुहृद् है—श्रद्धेयता और सौहार्द ही उस के लिए परिहासशीलता की अपेक्षा अधिक महत्त्व के हैं। विना उस की सहायता के अग्निमित्र को व्यर्थ ही अपनी प्रणयिनी के लिये परिखेद करना पड़ता।

विक्रमोर्वशी में कालिदास की कल्पनाशक्ति बहुत समुन्नत हो गई है। इस के कथाभाग को उस ने कहाँ से लिया, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कथा बहुत पुरानी है। ऋग्वेद में उस का कुछ आभास है। कुछ हेर फेर के साथ उसी को शतपथ ब्राह्मण में भी लिया गया है। पुराणों में भी वह मिलती है और मत्स्यपुराण में तो बहुत कुछ साम्य भी है—

उर्वशी का लता में परिणत होना, उस के वियोग में राजा का पागलों की भाँति उस को ढूँढ़ने के लिए भटकते फिरना इत्यादि मुख्य मुख्य बातें उस में पाई जाती हैं। उर्वशी के उत्कट और असंयत प्रेम को कालिदास ने सुचारुता के साथ अभिव्यक्त किया है किन्तु लौकिक जीवन से वह इतना असम्पृक्त है कि मन उस से मुग्ध नहीं हो सकता। उर्वशी का तिरस्करणी विद्या के प्रभाव से अलक्ष्य हो कर अपने प्रणयी की बातचीत को सुनना इतना ही अस्वाभाविक है जितना उस की अनन्य-साधारण अपत्य-स्नेह-शून्यता है जिस के कारण वह पतिवियोग की अपेक्षा पुत्र-परित्याग को ही स्वीकार करती है। उस के प्रेम में स्वार्थ है। नाटक के अभिनय में वह देवताओं के प्रति अपना कर्तव्य भूल जाती है—अपने बड़ों के प्रति आदरभाव को तिलाञ्जलि दे देती है। उस का रूप-विपरिणाम उस की विक्षिप्त ईर्षा के उद्वेग का फल है। कथा-नायक उस के सामने बहुत छोटा लगता है—चौथे अंक में पुरूरवा की मदान्ध निराशा यद्यपि प्रभावोत्पादक है तथापि आत्मसंयम और पुरुषत्व का अभाव उस में बिल्कुल स्पष्ट और अरुचिकर है। अन्य छोटे पात्रों के चित्रण में सफलता बहुत कम, प्रायः नहीं, प्राप्त हुई है। कुमार आयुस् का वृत्तान्त बिल्कुल कृत्रिम मालूम होता है और नाटक का अन्त निष्प्रभाव और अत्यन्त साधारण है। किन्तु विदूषक का परिहास, जिस को वह अपनी मूर्खता और अनवधानता को छिपाने के लिए करता है, मनोज्ञ है—उस की मूर्खता से रानी की चेटी उस से राजा और उर्वशी के प्रेम का भेद लेती है। जब उस को चेटी की वञ्चना का पता लगता

है तो वह राजा के सामने मूक हो जाता है। राजा पूछता है, तुम चुप कैसे हो? वह उत्तर देता है—महाराज, मैं ने अपनी जिह्वा को इतने संयम से रखा है कि आप को प्रतिवचन देने में भी असमर्थ हो गया हूँ। अनवधानता के कारण उस के हाथ से उर्वशी का दिया हुआ प्रणय-पत्र छूट गया है। राजा विरह-वेदना से व्याकुल है। उस को मनोविनोद की कोई वस्तु दिखाई नहीं देती! आखिर पत्र की याद आती है तो वह विदूषक से कहता है, 'उस भूर्जपत्र को ले आओ।' विदूषक इधर उधर देखने का नाट्य करके कहता है—

"हा! कथं न दृश्यते। भो दिव्यं खलु तद् भूर्जपत्रं गतं उर्वश्या मार्गेण।"

रानी औशीनरी उदात्त-चरित और उर्वशी की अपेक्षा अधिक मनोहर है। जिस तरह अग्निमित्र इरावती के सामने लज्जित हो कर फीका पड़ जाता है वही हाल यहाँ पुरूरवा का भी है; यहाँ विशेषता यह है कि रानी औशीनरी में महानुभावता और सहनशीलता है जिन के कारण पुरूरवा और अधिक तुच्छ लगता है।

शकुन्तलानाटक में कालिदास बहुत सी घटनाओं को जो उस के पूर्वकालीन नाटकों में पाई जाती है, पहिले से कहीं अधिक परिणतकौशलपूर्वक सन्निविष्ट करता है। वह विचारों के दुहराने में संकोच नहीं करता। पहिले और तीसरे अङ्क में हम देखते हैं कि राजा छिप कर शकुन्तला और उस की सखियों के

विश्रब्ध वार्तालाप को सुन रहा है। यही कल्पना मालविकाग्निमित्र के तीसरे अङ्क में भी पाई जाती है। राजा से विदा होते समय उर्वशी की भाँति शकुन्तला भी जाने में विलम्ब करने के अभिप्राय से पैर पर काँटा चुभ जाने और वस्त्र के पादप-शाखाओं पर उलझ जाने का बहाना बनाती है। इसी तरह दोनों ही अपने प्रेम को पत्र द्वारा प्रकट करती हैं। विक्रमोर्वशी में गिद्ध के द्वारा 'संगमनीयमणि' का अपहरण शकुन्तला के छठे अङ्क में मातलि के द्वारा विदूषक के पकड़े जाने की घटना के समान ही है। आयुस् मयूर के साथ क्रीड़ा करता है तो बालक भरत सिंहशिशु के साथ अपना मनोविनोद करता है। इस सादृश्य-कलाप के कारण शकुन्तला का उत्कर्ष ही बढ़ा है। इस के कथा-भाग को कालिदास ने शकुन्तलोपाख्यान से लिया है किन्तु उस पर अपनी कल्पना-शक्ति का रङ्ग चढ़ा कर उस को खूब चमत्कृत बनाया है। इस परिवर्तन से कवि के मस्तिष्क की प्रौढ़ता प्रकट होती है। महाभारत में वर्णित आख्यान बहुत ही सादा है। राजा आश्रम में पहुँचता है। शकुन्तला बिना किसी मिथ्या लज्जा के उस को अपने वंश का परिचय देती है। वह विवाह का प्रस्ताव करता है। इस पर शकुन्तला आपत्ति करती है किन्तु जब उस को विश्वास हो जाता है कि उन का यह गुप्त-मिलन न्याय-सङ्गत है तो वह राजा के यह प्रतिज्ञा करने पर सहमत हो जाती है कि उस से जो पुत्र पैदा होगा वही राज्य का उत्तराधिकारी बनेगा। राजा आश्रम से विदा होता है। बालक भरत का वहीं आश्रम ही में पालन पोषण होता है। जब वह बड़ा हो जाता है तो उचित समय में उस की मात

कुछ तपस्वियों के साथ उस को राजसभा में ले जाती है। तपस्वी उस को वहाँ छोड़ आते हैं किन्तु जब राजा कुटिल नीति का अवलम्बन कर उस का प्रत्याख्यान करता है तो वह निर्भीकता से डटी रहती है, वह राजा को मृत्यु का भय दिखाती है, उस की निर्भर्त्सना करती है, अपने दिव्य जन्म का स्मरण दिला कर उस पर आक्षेप करती है। अन्त में आकाशवाणी होती है कि राजन्, कुमार को युवराज बनाओ, शकुन्तला तुम्हारी धर्म-पत्नी है। फिर राजा कहता है कि इस बात को स्पष्ट करने के लिए कि कुमार भरत वस्तुतः राज्य का उत्तराधिकारी है उस ने यह कूट चाल चली थी। इस सादे आख्यान को कालिदास ने नए साँचे में ढाला है। विनीत नायिका को स्वप्न में भी यह विचार नहीं आ सकता कि वह राजा को अपने जन्म का परिचय दे, यही नहीं उस की सखियां भी इस विषय में जी खोल कर बात नहीं कर सकतीं—संकेतमात्र से व्यवहारकुशल राजा को समझा देती हैं। शकुन्तला का खिलता हुआ प्रेम पूर्ण कौशल के साथ चित्रित किया गया है। उस के विवाह और उस के भावी परिणाम को अत्यन्त श्लक्ष्ण वर्णना के साथ सूचित किया गया है। राजा के अयुक्त व्यवहार का यहाँ खूब समाधान किया गया है। इस का कारण दुर्वासा का अभिशाप था और इस में शकुन्तला का उत्तरदायित्व कुछ कम नहीं, क्योंकि वह प्रेम में पागल होकर आगन्तुक तपोधन के प्रति सत्कार और आतिथ्य के अत्यावश्यक कर्तव्य को भी भूल गई—प्रमाद की चरम सीमा तक पहुँच गई। राजा के सन्मुख वह किसी प्रकार की भर्त्सना नहीं करती। उस के आचरण से

महानुभावता प्रकट होती है यद्यपि प्रेम के प्रत्याख्यान से वह हैरान है—दुष्यन्त की विरक्ति से सर्वथा दंग है । राजा एक योग्य नायक है । शासनकार्य और प्रजा की हित-चिन्तना में उस का हार्दिक अनुराग है । उस की वीरता पर देवेन्द्र भी मुग्ध है । अपनी धर्मपत्नी से उस का फिर मेल होना उचित ही है । उस का पुत्र-प्रेम अत्यन्त हृदयङ्गम है और अभिशाप पर विचार करने से उस का आचरण निर्दोष ठहरता है । वह रूपलावण्य-सम्पन्न युवती शकुन्तला का प्रत्याख्यान करता है, इस लिए नहीं कि वह उस से घृणा करता हो किन्तु पर-स्त्री को अन्तः-पुर में रख कर वह अपने विमल वंश को दूषित नहीं करना चाहता । उस की धर्मनिष्ठता उस को रोकती है । शकुन्तला ने विरह के दिन दुःख में काटे हैं, एक कुलाङ्गना की भाँति अपने पातिव्रत धर्म को निभाया है जिस से उस का प्रेम पवित्र और श्लाघनीय हो गया है, और अन्त में जब वह अपने पति से मिलती है तो वह केवल एक प्रणयिनी युवती ही नहीं है किन्तु वह स्त्री है कि जिस ने आत्म-वेदनाएँ सहन की हैं और जिस के स्वभाव की गम्भीरता और अभिरामता बढ़ गई है ।

अन्य चरित कौशल-सम्पन्न चित्रण के नमूने हैं । कालि-दास ने यहाँ अपने आप को एक बड़े दोष से मुक्त किया है-शकुन्तला की प्रतिस्पर्धिनी कोई स्त्री नहीं दी गई है । दुष्यन्त की और भी स्त्रियां हैं किन्तु वे दृष्टि-क्षेत्र के केन्द्र में नहीं आती, उस के प्रान्त भागों ही से झाँक कर चली जाती हैं । हंसवती दुष्यन्त की प्रत्यय-भ्रष्टता पर दुःख प्रकट करती है परन्तु वह

स्वयं न जा कर उस की सान्त्वना के लिए विदूषक को भेज देता है। छठे अङ्क में वसुमती प्रवेश करती है किन्तु उस का कोई असर नहीं पड़ सकता, क्योंकि इसी समय नीति-विषयक एक विवाद का निर्णय कराने के लिए मन्त्री भी आ पहुँचता है। विदूषक, जिस ने इस प्रेम-कहानी के रङ्ग में भङ्ग कर दिया होता, दूसरे अङ्क में बड़ी चतुराई से और किसी काम के लिए भेज दिया जाता है, जब कि उस की विशेष उपयोगिता है—परिहास-जन्य सुस्थता को पैदा करना। मातलि राजा को विरह-वेदना से सचेत करने के लिए क्रीड़ापूर्वक विदूषक पर आक्रमण करता है। कण्व एक रमणीय चरित्र है—वह तपस्वी हैं, स्वयं सन्तानरहित हैं, किन्तु अपने अगाध स्नेह की सम्पूर्ण सम्पत्ति अपनी धर्म-पुत्री पर खर्च कर डालते हैं और जब उस को उस के पति के पास भेजते हैं तो उस समय मधुर उपदेश दे कर उसे विदा करते हैं। दुर्वासा के साथ कण्व का वैषम्य भी देखने लायक है। दुर्वासा में शम-प्रधान गुण नहीं हैं। भीषण अभिमान और प्रचण्ड कोप से उस का हृदय दहक रहा है। एक छोटे से बालिकोचित अपराध के लिए वह शकुन्तला को कितना बड़ा अभिशाप देता है! महर्षि मरीचि में उच्च कोटि की महानुभावता है। विवाहित होने पर भी उन्होंने सब सांसारिक धारणाओं को छोड़ दिया है और बन्धन से मुक्त होने के सुख का अनुभव करते हैं। यह सब कुछ होने पर भी वे केवल आत्म-कल्याण को ही सर्वस्व समझने वाले संन्यासी नहीं हैं। वे निःस्पृह कर्मयोगी हैं। निःस्वार्थ बुद्धि से लोक-हित के चिन्तन में अपना समय

लगाते हैं। बिगड़ी हुई लौकिक व्यवस्था को ठीक करने के लिए अग्रसर होते हैं। नायिका की सहेलियों का चित्रण श्लक्ष्णता और स्वारस्य से किया गया है। दोनों ही तन मन से शकुन्तला पर न्योछावर हैं, किन्तु अनसूया गम्भीर-प्रकृति और विचारशीला है, प्रियंवदा बातूनी और परिहासशीला है। जो तपस्वी शकुन्तला को राजसभा में ले जाते हैं उन में भी व्यक्तिगत भिन्नता स्पष्ट है। शार्ङ्गरव को अपने तपस्वि-जीवन का गौरव और स्वाभिमान है, और वह बुरी तरह राजा की भर्त्सना करता है। शारद्वत शान्त-चित और संयत है और कभी कभी शार्ङ्गरव को कुछ उलाहना भी दे देता है। पुलिस के अफ़सरों का नकशा भी बहुत सफलता से खींचा गया है। धीवर के प्रति उन के अन्याय-युक्त और उद्धत व्यवहार से इतिहास के आदि काल से ही भारतीय पुलिस के शील की सूचना मिलती है। अलौकिक घटनाएँ, जिन का विक्रमोर्वशी में अतिशय है, यहाँ बहुत कम की गई हैं और उन के कारण नाटक में अस्वाभाविकता नहीं आने पाई। केवल अन्तिम अङ्क में कुछ अलौकिक घटनाओं का सन्निवेश है जो कुछ खटकती सी हैं किन्तु उन का होना वहाँ अनिवार्य है—दिव्य आश्रम ही पुनर्मिलन के लिए उपयुक्त स्थान है। अभिज्ञान की कल्पना भी अत्यन्त उत्कृष्ट है और मूल कथा से उस का अच्छा मेल कराया गया है।

प्रणय-सम्बन्धी हृद्गत भावों के वर्णन में कालिदास अपना कोई प्रतिस्पर्धी नहीं रखता। अनुराग को उन्होंने मुग्ध हृदय में उस के प्रथम उद्बोधन से ले कर उत्कर्ष की चरम सीमा

तक पहुँचाया है। करुण-रस में भी उन का कौशल कम नहीं है। शकुन्तला का चौथा अङ्क स्निग्ध कारुण्य का आदर्श स्वरूप है। आश्रम के पशु पक्षी, लता-वृक्ष आदि शकुन्तला के स्नेह से स्निग्ध हो रहे हैं। इस के अनन्तर ही राजसभा में एक नया दृश्य देखने में आता है—प्रेम और करुणा का नहीं किन्तु विरक्ति और क्रूरता का! कालिदास का प्रकृति-प्रेम भी उस के तीनों ही नाटकों में खूब परिस्फुट हुआ है। उस की वर्णन-शक्ति भलीभाँति अभिव्यक्त हुई है। शकुन्तला के सातवें अङ्क में आकाशयान से पृथ्वी का अच्छा दृश्य अङ्कित किया गया है।

विदूषक के परिहास में कहीं भी ग्राम्यता नहीं है। उस की भोजनाभिरुचि एक मानी हुई बात है। नायक चन्द्रमा की सराहना करता है तो उस को लड्डू-पेड़ों का ध्यान हो आता है। उच्च भावों और बड़ी बड़ी बातों से उस को अरुचि है। उस की उपमाएँ भी परिहास ही के लिए होती हैं। सब से उत्तम, दूसरे अङ्क में, उस का आखेटजन्य क्लेशों का वर्णन है।

कालिदास के पारिभाषिक ज्ञान की गोचरता उन के नृत्य और गीतों के निपुण प्रयोग से स्पष्ट ही है। मालविकाग्निमित्र में नृत्य-शिक्षक के मुख से नृत्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों और उस के महत्त्व का बहुत अच्छा हृदयंगम विवरण करवाया गया है। मालविका नृत्य-कला में कुशल है तो कुछ कुछ लचक शकुन्तला में भी आ ही गई है। पादपों और हंसवती के गीतों

ने नाटक की रोचकता को बढ़ा दिया है। विक्रमोर्वशी में तो गीतों का खूब ही प्राधान्य है।

कालिदास की शैली

माधुर्य और प्रसाद गुण को कालिदास ने पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। वैदर्भी रीति के वे अप्रतिम आचार्य हैं। कहा गया है—*वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते*। असमासता अथवा अल्प-समासता, शब्दध्वनि और स्पष्टता का एकीभाव, उदात्त गुण, ओजस्विता और मनोज्ञता का अपूर्व संमिश्रण, अलंकरण और भाव-सौन्दर्य का एकत्र संनिवेशन ये सभी गुण कलिदास की रचना में विद्यमान हैं। भास और मृच्छकटिक के लेखक की भाँति कालिदास भी सरल है किन्तु उस जैसा लालित्य और परिष्कार इन लेखकों में नहीं पाया जाता। निःसन्देह उस की शैली पर अश्वघोष का प्रभाव पड़ा है परन्तु इस के उत्कर्ष का मुख्य कारण स्वाभाविक सुरुचि और अनवरत परिमार्जन है—इसी से भिन्न भिन्न संस्करणों में जो विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर होती है उस का भी समाधान हो जाता है। शकुन्तला में कालिदास ने जो कौशल प्रदर्शित किया है वह सर्वथा उस दूषण से असम्पृक्त है जो उस के उत्तरवर्त्ती कवियों में पाया जाता है—अनुपयुक्त स्थान में कवित्वशक्तिप्रदर्शन करने के अवगुण से वह किसी तरह दूषित नहीं है। यद्यपि कालिदास वस्तुवर्णन में कुशल है और अनायास ही अपनी वर्णन-शक्ति को अभिव्यक्त कर सकता है तथापि शकुन्तला के पाँचवें अंक में कोई बात ऐसी नहीं दी है जो नाटक की

दृष्टि से उपयोगी न हो। कविता को अलंकृत करना बुरा नहीं, कवित्व-शक्ति के चमत्कारों को दिखाना गर्ह्य नहीं, किन्तु वहीं तक जहाँ तक उस में अस्वाभाविकता और अस्वारस्य नहीं आता। कालिदास की भाषा में व्यञ्जकत्व-शक्ति है; जिस बात को भवभूति खूब खोल कर वर्णन करता है उसी को वह ध्वनि से सूचित कर देता है। उस की स्पष्टता सराहनीय है। उस की शैली का औचित्य इस से कुछ कम प्रशंसनीय नहीं है। पुलिसमैन और धीवर की बोलचाल में खूब सूक्ष्म भेद दिखलाया गया है। इसी प्रकार पुरोहित की भाषा में भी भिन्नता है—उस का तर्क-वितर्क सब दार्शनिक सूत्रों के ढंग पर है। नाटक की कुमारियों के लिए जिस प्राकृत का प्रयोग किया गया है उस में यह श्रेष्ठ गुण है कि वह विकट-बन्ध और लम्बे समासों से स्वतन्त्र है किन्तु भवभूति में अस्वाभाविकता लाने वाले ये अवगुण प्राचुर्य के साथ विद्यमान हैं।

कालिदास के विषय में प्रायः यह कहते हुए सुना जाता है कि " *उपमा कालिदासस्य* "—उपमा देने में कालिदास अद्वितीय है। वास्तव में बात ऐसी ही है। अलंकारों के वर्णन में भी कालिदास एक ही हैं। राजा दुष्यन्त मृग के पीछे आश्रम की ओर भागे जा रहे हैं। कालिदास उस समय उस मृग की दशा का वर्णन करते हैं। देखिए, कितनी सजीव और सुस्पष्ट स्वभावोक्ति है—

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।

दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥

राजा अपने सारथी से कह रहा है, हे सूत, देखो तो सही, अपने पीछे भागते हुए रथ को यह हरिण गर्दन घुमा घुमा कर कितनी रमणीयता के साथ बार बार निहार रहा है; बाण लगने के डर से उस ने अपने शरीर का पिछला हिस्सा बहुत कुछ अगले हिस्से में प्रविष्ट कर दिया है; थकावट के कारण उस का मुख खुला हुआ है, अतएव आधा चबाया हुआ दर्भ गिर गिर कर मार्ग में बिखर गया है; भीषण छलाँगों के कारण यह पृथ्वी पर बहुत कम और आकाश में ही अधिक भागता हुआ जा रहा है।

अनुमानालंकार का उदाहरण देखिए—

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥

यह आश्रमपद उद्वेग-शून्य है और मेरी बाँह फड़क रही है। भला यहाँ इस का फल कैसे मिल सकता है। अथवा होनहार प्रबल है, उस के दरवाजे सर्वत्र होते हैं।

अन्तःकरण की प्रवृत्ति के विषय में कितनी अनूठी उक्ति है—

" असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥ "

निःसन्देह यह (शकुन्तला) क्षत्रिय-वधू होने योग्य है; अन्यथा यह कैसे हो सकता है कि मेरा विशुद्ध मन इस में अनुरक्त हो, क्योंकि सन्दिग्ध बातों का निर्णय करने में भद्र पुरुषों की अन्तःकरण की प्रवृत्तियां ही प्रमाण हैं।

अभिज्ञान के मिलने पर राजा को शकुन्तला के साथ अपने प्रेम का स्मरण हो आता है, अतएव वह अपनी क्रूरता पर पछताता है और शकुन्तला के प्रत्याख्यान के बाद की अवस्था का वर्णन करता है—

इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
मुहुस्तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम्॥

जब मैं ने उस का प्रत्याख्यान कर दिया तो वह स्वजनों के साथ जाने के लिए प्रवृत्त हुई किन्तु गुरुशिष्य ने झिड़क कर कहा 'ठहरो', उस समय उस ने मुझ निर्दयी पर जो आँसुओं के गिरने से धुँधलाई हुई दृष्टि डाली थी वह अब मुझ को विष में बुझे हुए बाण की भाँति जला रही है।

बालक सर्वदमन के स्पर्श से उस का हृदय हिलोरे लेने लगता है तो वह कहता है—

"अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण
स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममेवम्।

कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्या-
द्यस्यायमंकात्कृतिनः प्ररूढः ॥

इस किसी दूसरे वंश के अंकुरभूत बालक से मेरे शरीर का स्पर्श हो जाने पर इतना सुख तो मुझे हो रहा है तो उस पुण्यात्मा के हृदय को कितना आनन्द होता होगा जिस के अंक से यह पैदा हुआ है।

राजा को अपनी विश्वासघातकता की सज़ा भी खूब कड़ी मिली है—

"प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः ।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥"

निद्रा के अभाव से उस का (शकुन्तला का) स्वप्न में मिलना सम्भव नहीं, और आँसुओं का प्रवाह उस को चित्र में देखने से भी वञ्चित कर रहा है !

पुनर्मिलन का दृश्य कुछ और ही है—

"शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव ।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥"

महर्षि मरीचि शकुन्तला से कहते हैं—अभिशाप के कारण स्मरणशक्ति के नष्ट हो जाने से दुष्यन्त ने तुम्हारा

प्रत्याख्यान किया है, इस समय मोहान्धकार दूर हो जाने से तुम्हारा अपने पति पर पूर्ण आधिपत्य है। मैले दर्पण पर प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता किन्तु मलिनता दूर हो जाने पर वह अनायास ही पड़ जाता है।

उर्वशी के प्रति पुरूरवा का जो उपालम्भ है उस में करुणा पाई जाती है—

"त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः
प्रणयभंगपराङ्मुखचेतसः
कमपराधलवं मम पश्यसि
त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ?"

तुम पर मेरा प्रगाढ़ प्रेम था, सदैव तुम से मधुर भाषण किया करता था, प्रेम में किसी प्रकार की बाधा न पड़े इस बात का मैं हमेशा ख़याल रखता था; हे मानशीले, तू ने मुझ में कौन से अपराध का लेश देखा है जिस के कारण तू अपने इस दास को छोड़ चली है ?

उर्वशी को प्राप्त करने के लिए पुरूरवा ने जो व्यर्थ आयास किया है उस का खूब ज़ोरदार चित्रण किया गया है—

"समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति
क्षणेन तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा ।
अतो विनिद्रे सहसा विलोकने
करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ॥"

जिस किसी वस्तु को मैं अपनी प्रियतमा समझता हूँ वही क्षण भर में दूसरा रूप धारण कर लेती है, अब मैं अपनी आँखों में नींद नहीं आने दूँगा—उन को उन के अपराध का यही उचित दण्ड है—क्योंकि मैं उस के स्पर्श से वञ्चित रखा गया हूँ जिस की मैं हृदय से उपासना करता हूँ। उस के प्रेम की प्रगाढ़ता की कोई सीमा ही नहीं—

"इदं त्वया रथक्षोभादंगेनांगं निपीडितम् ।
एकं कृति शरीरेऽस्मिन् शेषमंगं भुवो भरः ॥"

रथ के संक्षोभ के कारण मेरे जिस अङ्ग का उस के शरीर से स्पर्श हुआ है वही धन्य है, और सब अंग पृथ्वी के लिए भारमात्र हैं !

अत्युक्ति का होना असंगत नहीं—

"सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठ-
मेकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम् ।
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य
कान्तमाज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः ॥"

यद्यपि सामन्तों (अधीन राजाओं) के मस्तक की मणियों से मेरा चरणों का पीढ़ा समुज्ज्वल है और पृथ्वी पर मैं निष्कंटक एकच्छत्र राज्य करता हूँ तथापि मुझे अपने इस प्रभुत्व में इतना सुख नहीं मिला जितना उर्वशी के चरणों का दासत्व प्राप्त करने से मिला है !

राक्षसों के आक्रमण से उर्वशी की सचेत होने की अवस्था का वर्णन सुन्दर उपमाओं के द्वारा किया गया है—

"आविर्भूते शशिनि तमसा रिच्यमानेव रात्रि-
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव छिन्नभूयिष्ठधूमा ।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना
गंगारोधपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम् ॥

जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार से छूटती हुई रात्रि लगती हैं, जिस प्रकार धुएं के न रहने से रात्रि को अग्नि की ज्वाला लगती है, उसी प्रकार यह सुन्दर शरीर वाली मोह के छूट जाने से मालूम होती है, मानो किनारों के गिर जाने से मैली हुई गंगा नदी साफ़ हो रही है।

मालविकाग्निमित्र में यद्यपि इतनी उत्कृष्टताएं नहीं हैं जितनी शकुन्तला और विक्रमोर्वशी में पाई जाती हैं तथापि कितने ही पद्य ऐसे हैं जो निःसन्देह कालिदास की रचना हैं। उत्तरकालीन शैली की प्रौढता उन में नहीं है किन्तु वे कवि की प्रतिभा के चमत्कार से शून्य नहीं हैं। देखिए विषमालंकार का कितना अच्छा उदाहरण है—

"क रुजा हृदयप्रमाथिनी क च ते विश्वसनीयमायुधम् ।
मृदुतीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि ॥"

कहाँ तो तुम्हारा विश्वसनीय शस्त्र और कहाँ इस प्रकार की व्यथा से हृदय को सालना! हे कामदेव, मृदुता और कार्कश्य का तुम में यह अपूर्व संमिश्रण दृष्टिगोचर होता है।

मालविका अग्निमित्र के प्रति अपना प्रगाढ स्नेह सूचन करने के अनन्तर ही बड़ी चतुराई से उस को इस बात का स्मरण दिलाती है कि वह रानी से इतना ही भीतचकित दिखाई दिया जितना वह स्वयं भी थी तो वह झटपट अपने श्लेषबन्ध से उस को निरुत्तर कर देता है—

"दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि बैम्बिकानां कुलव्रतम् ।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥"

ऐ बिम्बोष्ठि, सुशीलता तो बिम्बक के वंशधरों का परम्परागत धर्म ही है; हे दीर्घाक्षि, मुझ में जो कुछ प्राण अवशिष्ट हैं वे केवल तुम्हें पाने की आशा से ।

श्लाघ्यगुण-सम्पन्न कौशिकी धारिणी को सान्त्वना और प्रोत्साहन देती हुई कहती है—

"प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः ।

अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम् ॥"

पति से प्रेम करने वाली साध्वी स्त्रियां अपने प्रतिस्पर्धी के द्वारा भी पति की सेवा करती हैं; महानदियों को देखिए, वे दूसरी छोटी नदियों के जल को भी समुद्र में पहुँचाती हैं—पति की सेवा करने में कोई बात उठा नहीं रखतीं ।

मालविका के वास्तविक गुणों का परिचय पा कर राजा अग्निमित्र जिन सीधे और सरल शब्दों में अपने भावों को व्यक्त करता है वे मनोरञ्जन से खाली नहीं हैं—

"प्रेष्यभावेन नामेयं देवीशब्दक्षमा सती ।
स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्त्रोर्णं वोपयुज्यते ॥"

यह साध्वी रानी शब्द से सम्बोधन किए जाने योग्य होने पर भी दासी की भाँन्ति रखी गई है; जिस प्रकार कोई रेशम के वस्त्र से अंगोछे का काम ले।

महानुभावता से भरे भावों को व्यक्त करने में भी कालिदास कम नहीं है। कौशिकी के भाई ने अपने प्राणपण से वन्य लोगों के आक्रमण से मालविका की रक्षा की। उसी बात को वह इस प्रकार प्रकट करती है—

"इमां परीप्सुर्दुर्जाते पराभिभवकातराम् ।
भर्तृप्रियः प्रियैर्भर्तुरानृण्यमसुभिर्गतः ॥"

आक्रमण से अधीर हुई इस मालविका की रक्षा करने में उत्सुक, स्वामी का प्यारा, वह (तेरा भाई) अपने प्यारे प्राणों को दे कर स्वामी के ऋण से मुक्त हुआ है।

राजा के उत्तर में भी महानुभावता है:—

'भगवति, तनुत्यजामीदृशि लोकयात्रा, न शोच्यं तत्रभवान्सफलीकृतभर्तृपिण्डः ।'

भगवति, वीर पुरुषों की ऐसी गति होती है, उस स्वामिभक्त वीर का तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

कालिदास के समय का भारत

कालिदास के समय के विषय में अन्यत्र विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। प्रायः आधुनिक विद्वान् उसे गुप्तवंशी

चन्द्रगुप्तद्वितीय विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं। उस समय भारत कितना उन्नत था इस का यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है।

गुप्त शासन एक सौ पचास वर्ष से कुछ ही अधिक रहा, किन्तु भारतवर्ष के इतिहास में वह अनेक बातों में अत्यन्त आश्चर्यावह और समुज्ज्वल युगपरिवर्तन का समय है। यह वह समय था जब भारतवासियों की बुद्धि और मानसिक व्यवसाय का वह अपूर्व उद्घाटन हुआ जिस की समता तब से अभी तक नहीं हुई। जातीय बुद्धिवैभव के इस आकस्मिक विकास के कारणों का पता लगाना इतना ही कठिन है जितना इस बात को बताना कि यूनान के सत्-युग (Golden Age) और इटली में रिनेसाँस (Renaissance) का ठीक इसी तरह का विकास कैसे हुआ। सम्भवतः विजातीय सभ्यताओं के सम्पर्क से उस में कुछ योग मिला होगा, क्योंकि इस युग में फारिस के ससैनियन साम्राज्य से भारतवर्ष का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, और चीन और रोमन साम्राज्य से भी उस का संसर्ग रहा है। यह भी सम्भव हो सकता है कि असभ्य जातियों के आक्रमण और उन की यन्त्रणाओं का उस पर असर पड़ा होगा, क्योंकि उतरीय भारतवर्ष कुशान, पार्थियन और सीथिन शासन के नीचे चिरकाल से दुःख उठा चुका था। अस्तु। कारण जो कुछ भी रहे हों, इस नूतन मानसिक ऊर्जस्विता का परिणाम अति अद्भुत और बहुव्यापी हुआ है। राजनैतिक क्षेत्र में उस से साम्राज्यविषयक विचार को जो मौर्य्यों

के समय से सुप्तावस्था को प्राप्त हो गया था, पुनर्जीवन मिला और इस विचार का फल यह हुआ कि उस से एक बृहद् साम्राज्य की सुदृढ़ स्थापना की गई जिस में नर्मदा नदी तक सम्पूर्ण उत्तरी भारतवर्ष संमिलित था। धार्मिक क्षेत्र में यह नवीन कर्मण्यता ब्राह्मण-धर्म के पुनरुद्धार के रूप में अभिव्यक्त हुई और उस के साथ ही देववाणी संस्कृत का भी पुनरुत्थान हुआ। यही समय था जब भारतीय शेक्सपियर कालिदास ने अपने अजर नाटकों की रचना की और जब अन्य विश्रुत नाटक लिखे गए, इसी काल में पुराण अपने अन्तिम स्वरूप में आए, मानवधर्मशास्त्र ने अपना आधुनिक रूप धारण किया, और और गणित और ज्योतिष परम उत्कर्ष को प्राप्त हुए। इस प्रकार गुप्त काल में भारतीय बुद्धि का वास्तविक पुनरुद्बोधन हुआ, और यह नवीन धीमता वास्तुविद्या और निर्माण-कलाओं में इतनी ही प्रतिबिम्बित हुई जितनी कि ज्ञान और विचार-शीलता के अन्य क्षेत्रों में। वस्तुतः, इन बुद्धिविषयक विशेषताओं—तर्कानुरूप विचार और सौन्दर्य—के ही कारण गुप्त काल की वास्तुकला और प्रतिमा-शिला भारतीय कला के इतिहास में सर्वोत्कृष्ट भाव से विद्यमान है, और अनेक बातों में से हमे आठ सौ वर्ष पूर्व की यूनानी और एक सहस्र वर्ष उत्तरकालीन इटली की निर्माण-कला का स्मरण दिलाते हैं। गुप्तकला से ही उस समय की साहित्यक विशेषताओं का सूक्ष्म रूप में ज्ञान प्राप्त हो सकता है। नीचे जो गुप्त कला के विषय में लिखा जाता है वह साहित्य पर भी लागू है।

पूर्वकालीन भारतीय कला की प्रधान विशेषताएँ स्वतः-सिद्ध स्वाभाविकता और सरलता थीं। अधिक समुन्नत और व्युत्पन्न गुप्तकाल में ये गुण विवेक से निरुद्ध किए गए, और कला अधिक नियमानुसारिणी, अधिक आत्म-संवेदिनी और अधिक जटिल हो गई। फलतः उस में पूर्वकालीन कला की सरलता और मनोज्ञता नहीं रहने पाई, किन्तु उस में उन गुणों की अभिवृद्धि हुई जिन पर प्रबोधनवती प्रज्ञा और अप्रबुद्ध सौन्दर्यसंवेदिनी बुद्धि मुग्ध होने लगी—चतुरस्रता और सम्बन्धसाम्य, आकृति का संस्थानविषयक औचित्य, अलंकरण का युक्ति-सम्मत निरोध, और प्रपञ्चना का मर्यादीकरण, इत्यादि उदाहरणार्थ यहाँ पर उल्लिखित किए जाते हैं। एक और महत्त्वपूर्ण अवस्था में भी गुप्त-काल की कला पूर्वकालीन कला से मूलतः भिन्न है। क्योंकि पूर्वकालीन पद्धति के अनुसार निर्माण कला उपाख्यानों और धर्मविषयक इतिहास के वर्णन करने का साधनमात्र थी, इस के विपरीत गुप्त-काल में विवेक और कला के बीच अधिक घना सम्बन्ध स्थापित किया गया, तक्षक और चित्रकार अपने आध्यात्मिक और भावनात्मक विचारों को रूप और रङ्ग के द्वारा अभिव्यक्त करने लगे। बुद्ध की आकृतियाँ, जिन का इस काल में निर्माण हुआ और जिन में सौन्दर्य का प्रशान्त विचारणा के साथ संमिश्रण किया गया है अत्यन्त उत्कृष्ट प्रदान हैं जो भारतवर्ष ने संसार की कला को किए हैं।

——:०:——

चन्द्र, हर्ष और महेन्द्रविक्रम

चन्द्र वा चन्द्रक

नाटककार चन्द्रक कौन था, यह बात अभी तक सन्दिग्ध है। तिब्बती भाषा में अनूदित "लोकानन्द" नाम का एक बौद्ध नाटक है, जिस में एक मणिचूड़ का वर्णन आता है जिस ने अपनी महती उदारता के कारण अपनी स्त्री और बच्चों को किसी ब्राह्मण को दे दिया था। यह नाटक वैयाकरण चन्द्रगोमिन का बनाया हुआ कहा जाता है, जिस की शिष्य-लेखा में एक पद्य पाया जाता है जो सुभाषितावली में चन्द्रगोमिन का बनाया हुआ बतलाया गया है। यह बात सर्वथा अनिश्चित है कि यह नाटककार चन्द्रक वही हो जिस को कल्हण ने कश्मीर के तुञ्जीन के नीचे स्थान दिया है, और जिस ने एक नाटक में महाभारत के लेखक के समान उत्कृष्टता प्रदर्शित की है। वैयाकरण चन्द्रगोमिन ६५० ई० के पूर्व रहा होगा, क्योंकि काशिकावृत्ति में उस का ज़िक्र आया है, यद्यपि उस में उस का नाम नहीं दिया गया है। इस से अधिक निश्चित समय बताना सम्भव नहीं है क्योंकि उस ने जो हूणों पर एक जर्त राजा की विजय का निर्देश किया है उस के काल का निर्णय ठीक ठीक नहीं किया जा सकता, जब तक यह मालूम न हो कि किस जाट राजा से उस का अभिप्राय है— यद्यपि कभी कभी यशोधर्मन् की ओर संकेत किया जाता है। लेवि ने चन्द्र का सायुज्य इसी नाम के एक मनुष्य से,

जिस के विषय में इत्सिङ्ग (I-tsing) ने उल्लेख किया है कि वह यशोधर्मन् के समय में विद्यमान था, किया है। किन्तु यह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता, यद्यपि इत्सिङ्ग ने शिष्यलेखा के उपर्युल्लिखित पद्य को यशोधर्मन् के समय के कल्पित चन्द्र का बनाया हुआ बताया है। तिब्बती भाषा के अनुवाद में यह पद्य नहीं मिलता। सम्भवतः इत्सिङ्ग ने भूल से ऐसा लिखा है। मालूम होता है कि यशोधर्मन् का समकालीन कोई चन्द्रदास था जिस ने विश्वन्तर उपाख्यान को नाटक का रूप दिया है।

सुभाषितावली में एक सुन्दर वीर-रस-प्रधान पद्य चन्द्रक का बनाया हुआ बतलाया गया है—

"एषा हि रणगतस्य दृढा प्रतिज्ञा,
द्रक्ष्यन्ति यन्न रिपवो जघनं हयानाम्।
युद्धेषु भाग्यचपलेषु न मे प्रतिज्ञा,
दैवं यदिच्छति जयं च पराजयं च ॥"

रणक्षेत्र में उतरे हुए मेरी यह दृढ़ प्रतिज्ञा है कि शत्रु मेरे घोड़ों की पीठ नहीं देखेंगे। युद्ध में भाग्य अनिश्चित है। संग्रामों में क्या होगा यह मैं नहीं कह सकता; जय अथवा पराजय जो कुछ दैवेच्छा हो वह होवे।

प्रणय-सम्बन्धि एक पद्य इस प्रकार है—

"प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं
प्रिये शुष्यत्यंगान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः।

निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतुं भवति गतः कालहरिणः ॥"

हे प्रिये, रोष को छोड़ो, प्रसन्नता प्रकट करो, शान्त हो जाओ, मेरे अङ्ग सूखे जाते हैं उन का अपने वचनामृत से सिंचन करो, सुख के घर अपने मुख को ज़रा सामने करो। हे मुग्धे, कालरूपी हरिण भागा जाता है—वह फिर लौट कर नहीं आने का।

चन्द्रक के जो अन्य अवतरण मिलते हैं उन से उस का शृङ्गार और करुण रस में कौशल प्रदर्शित होता है।

यह बात स्पष्ट है कि अलङ्कारशास्त्र के आचार्य चन्द्रक को श्लाघनीय समझते थे। दशरूपक की टीका में एक पद्य मिलता है, जो अन्यत्र उस के नाम से उल्लिखित है, और जो रस-संसृष्टि के उदाहरण में दिया गया है किन्तु जिस में विप्रलम्भाख्य शृङ्गार का प्राधान्य है—

"एकेनाक्ष्णा परिततरुषा वीक्षते व्योम-संस्थं
भानोर्बिम्बं सजललुलितेनापरेणात्मकान्तम् ।
अह्नश्छेदे दयितविरहाशंकिनी चक्रवाकी
द्वौ संकीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा ॥"

क्रोधभरी एक आँख से वह अस्त होते हुए सूर्य के बिम्ब को निहारती है, आँसुओं से धुँधलाई हुई दूसरी आँख से अपने प्राण-वल्लभ को देखती है, दिन के पर्यवसान में पति-

वियोग की आशङ्का करने वाली यह चक्रवाकी प्रौढ नटी की भाँति दो भिन्न रसों की संसृष्टि कर रही है।

नाटकीय मङ्गलाचरण के कुछ श्लोक भी उपलब्ध हैं जो चन्द्रक के बनाए हुए कहे जाते हैं।

हर्ष के तीन नाटक

कर्तृत्व के विषय में विवाद—हर्ष के नाम से इस समय तीन नाटक और कुछ फुटकर कविताएँ प्रसिद्ध हैं। यह हर्ष थानेसर और कान्यकुब्ज में राज्य करते थे। इन का राज्यत्व-काल सन् ६०६ ई० से ६४८ ई० तक माना जाता है। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि बाण ने इन्हीं के आश्रय में रह कर हर्षचरित लिखा था। चीनी यात्री ह्यूनसाँग इन्हीं के पास आ कर टिका था और उस के लेखों से हम को बहुत कुछ हर्ष के राज्य का हाल मालूम होता है। रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द नाम के तीन नाटक, हर्ष के बनाए हुए बताए जाते हैं। यह तीनों एक ही पुरुष की रचना है, इस बात की पुष्टि दो तरह से होती है। पहिली बात तो यह है कि प्रियदर्शिका के दो पद्य नागानन्द में भी पाए जाते हैं और एक पद्य रत्नावली और प्रियदर्शिका दोनों में आया है। किन्तु सब से प्रबल और अकाट्य दलील इस सम्बन्ध में यह है कि तीनों नाटकों की शैली एक जैसी है और तीनों में बहुत कुछ भावसादृश्य भी है। इन नाटकों के कर्तृत्व का प्रश्न प्राचीन समय में भी उठाया गया था।

मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में लिखा है कि हर्ष ने बाण को सुवर्ण भेंट किया था। इस पर टीकाकार रत्नावली की ओर संकेत करते हैं जो हर्ष के नाम से प्रसिद्ध की गई थी। लेकिन यह बात पूर्वकालीन परम्परा से सिद्ध नहीं होती। इत्सिङ्ग ने स्पष्ट लिखा है कि नागानन्द की कथा को हर्ष ने नाटक में परिणत किया और उस का अभिनय भी करवाया। दामोदरगुप्त के कुट्टनीमत में जो कश्मीर के जयापीड (७७९ ई० से ८१३ ई० तक) के आश्रय में रहता था, यह उल्लेख है कि एक राजा ने रत्नावली को बनाया और उस का अभिनय भी किया गया। इस कथन में कोई सार नहीं है कि बाण ने उपर्युक्त नाटकों को बनाया—हर्षचरित और उन की शैली में कुछ भी सादृश्य नहीं। अतएव कहना पड़ता है कि अपने पण्डितों से यत्किञ्चित् सहायता ले कर हर्ष ने इन नाटकों को लिखा है। अथवा किसी और ग्रन्थकार ने उन की रचना की है और राजा हर्ष को उस रचना के यश का भागी बनाया है।

रत्नावली और प्रियदर्शिका दोनों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों नाटिका हैं। चरित्रनायक भी दोनों का एक ही है—दोनों ने ही राजा उदयन की प्रेम-कथाओं को अलापा है। विशेषतया रत्नावली को नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने श्लाघनीय माना है और पारिभाषिक नियमों को समझाने में उस ने दृष्टान्त का काम दिया है।

रत्नावली–कथा इस प्रकार है—यौगंधरायण राजा उदयन का शुभचिन्तक मन्त्री है। वह अपने स्वामी की शक्ति बढ़ाने में सर्वदा तत्पर है। ऐसे राजनैतिक कारण से ही लङ्का की राजकुमारी रत्नावली से उदयन का विवाह-सम्बन्ध आवश्यक समझा गया। जब यौगन्धरायण ने किसी तरह यह प्रसिद्ध कर दिया कि राजमहिषी वासवदत्ता लावाणक में अग्निसात् हो गई है तो लङ्केश्वर ने अपनी पुत्री देनी स्वीकार की। लङ्का से आते समय नौका डूबी किन्तु रत्नावली को कोशाम्बी के एक सौदागर ने बचा लिया और उस को वासवदत्ता के हवाले कर दिया। उस के सौन्दर्य से शङ्कित हो कर रानी वासवदत्ता ने उस को राजा की पहुँच से बाहर ही रखा। किन्तु भाग्य की विपरीतता, वसन्तोत्सव के अवसर पर वासवदत्ता वत्सराज के साथ कामदेव की पूजा के लिए निकलती है। उस की परिचारिकाओं के साथ सागरिका—रत्नावली भी आ पहुँचती है। शीघ्र ही उस को वहाँ से चले जाने की आज्ञा होती है किन्तु वह छिप छिप कर सब कुछ देखती है—उसे ऐसा प्रतीत होता है मानों वत्सराज कामदेव के शरीरी अवतार हों। इतने में सायंकाल के आगम की घोषणा होती है।

दूसरे अङ्क में हम सागरिका और उस की सखी सुसंगता को देखते हैं। सागरिका ने चित्रपट पर राजा का चित्र खींचा है। सुसंगता परिहास के लिए उसी पट पर उस के चित्र को भी बना देती है। सागरिका अपने सब रहस्यों को सुसंगता पर प्रकट कर देती है। इतने में पशुशाला से भाग कर एक बन्दर आता है और उस के

हाथ पर से तोते के पिंजड़े को तोड़ डालता है। तोता उड़ कर वृक्ष पर बैठता है और सागरिका के सम्पूर्ण रहस्यों को जो उस ने सुने थे दुहराने लगता है। राजा और विदूषक जो वहीं उद्यान में आ पहुँचे थे, इन सब बातों को सुन लेते हैं और चित्र भी उन के हाथ लग जाता है। दोनों सखियां उस चित्र को लेने आ रही थीं कि उन्हों ने राजा और विदूषक को बातें करते पाया। चुपके से उन की सभी बातें सुन लीं। आख़िर सुसंगता राजा के सन्मुख आने का साहस करती है और उस को सागरिका से मिलाती है। इसी बीच रानी भी आ पहुँचती है। वह इन सब चेष्टाओं को देखती है। चित्र पर भी उस की दृष्टि पड़ती है। स्वभावतः उस के क्रोध का समुद्र उमड़ आता है किन्तु कुछ न कह कर वह वहाँ से चल देती है। राजा व्यर्थ ही उस के क्रोध को शान्त करने का प्रयत्न करता है।

तीसरे अङ्क में विदूषक ने मिलने का उपाय सोचा। सागरिका रानी का वेष बनाती है और उस की सखी उस की दासी का। किन्तु वासवदत्ता को इस बात की पहिले खबर मिल जाती है और वह स्वयं सागरिका से पूर्व ही संकेतस्थान पर पहुँच जाती है, उस की प्रणय की बातों को सुनती है और फिर राजा की खूब भर्त्सना करती है। सागरिका ने सुना कि यहाँ तो पहिले ही रङ्ग में भङ्ग हो गया है। उस के चित्त को ग्लानि आती है और वह फांसी लगा कर आत्मघात करने के लिए तत्पर होती है। इस विकट समय पर राजा भी वहाँ आ पहुँचता है। उस ने समझा, रानी वासवदत्ता उस के व्यवहार से खिन्न होकर फांसी पर

चढ़ना चाहती है। उस ने झट से फांसी काट डाली और सागरिका को पहचान कर प्रेम से गद्गद हो गया। रानी राजा से क्षमा मांगने आ रही थी किन्तु उस ने देखा यहाँ तो कुछ और ही राग है। क्रोध में आकर सागरिका और विदूषक को कैद कर के ले जाती है।

चौथे अङ्क में हम देखते हैं कि विदूषक को क्षमा कर दिया गया है किन्तु सागरिका बन्दीगृह में बंद है और राजा उस की सहायता करने में सर्वथा असमर्थ है। इसी समय शुभ समाचार मिलता है कि सेनापति रुमण्वान् ने कोशलदेशवासियों पर विजय प्राप्त की है और उन के राजा को मार डाला है। एक ऐन्द्रजालिक आता है और उस को अपना कौशल दिखाने की अनुमति मिलती है। इतने में उदयन का कञ्चुकी बाभ्रव्य और लङ्का के राजा के मन्त्री वसुभूति भी जो नाव में डूबने से बच गए थे, आ पहुँचते हैं। इस समय एक और घटना होती है—अन्तःपुर में आग लगी है, सागरिका वहीं बेड़ियों से जकड़ी हुई बंद है। राजा को मालूम होता है और वह उस को बाहर निकाल लाता है, क्योंकि वस्तुतः अन्तःपुर में आग नहीं लगी थी किन्तु ऐन्द्रजालिक ने अपनी माया दिखलाई थी। बाभ्रव्य और वसुभूति सागरिका को पहचानते हैं। यौगंधरायण आ कर सब भेद खोलता है। वासवदत्ता प्रसन्न हो कर विवाह की अनुज्ञा दे देती है।

प्रियदर्शिका—पहिले अङ्क में प्रियदर्शिका के अन्तःपुर में पहुँचने की कथा है। प्रियदर्शिका राजा दृढवर्मा की पुत्री है।

जो पीछे वत्स की धर्मपत्नी बनती है। वत्स प्रद्योत की कैद में है। कलिंगदेश का राजा इस राजकुमारी से विवाह करना चाहता है किन्तु उस की अभ्यर्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इस कारण वह दृढवर्मा पर आक्रमण करता है और उस को कैद कर लेता है। राजकुमारी को कञ्चुकी राजा दृढवर्मा के मित्र विन्ध्यकेतु के आश्रय में ले जाता है। किन्तु वह वत्सराज की अवमानना करता है। अतएव वत्स-सेनापति उस को युद्ध में मार कर प्रियदर्शिका को ले आता है और वह वासवदत्ता की परिचारिका बन कर अन्तःपुर में रहने लगती है। वहाँ वह 'आरण्यका' नाम से पुकारी जाती है।

दूसरे अङ्क में वत्स आरण्यका के प्रेम से विह्वल है। आरण्यका अपनी सखी के साथ कमल के फूलों को तोड़ने के लिए आती है। वह सखी से अपने प्रेम की बातें कहती है। राजा सुन लेता है। एक भौंरा उस पर आक्रमण करता है। सहेली वहाँ से चल देती है और वह सम्भ्रम से राजा भुजाओं में दौड़ती है। वत्स उस को भौंरे से बचाता है किन्तु उस की सखी के लौट आने पर वहाँ से चल देता है।

तीसरे अङ्क में हम देखते हैं कि रानी की विश्वासपात्रा वृद्धा सखी सांकृत्यायनी ने वत्स और वासवदत्ता के विवाह पर एक नाटक तय्यार किया है। उस का अभिनय देखने के लिए वासवदत्ता से विशेष आग्रह किया गया है। आरण्यका रानी का और मनोरमा राजा का पार्ट खेलेगी। किन्तु रूप से स्वयं राजा ही पार्ट लेने को है। अभिनय के उत्कट प्रेम से रानी

चिन्तित है किन्तु सांकृत्यायनी उस को प्रबोधन देती है कि चिन्तित होने की कोई बात नहीं है; यह तो केवल अभिनय-मात्र है। वह सभा-भवन से चल देती है और विदूषक को सोया हुआ पाती है। कर्कशता से जगाए जाने पर वह सारा भेद खोल देता है। रानी वासवदत्ता स्वभावतः रुष्ट होजाती है और वत्सराज के झूठे बहानों को नहीं सुनना चाहती।

चौथे अङ्क में आरण्यका बन्दीगृह में दिखाई देती है। राजा निराशा में डूबा हुआ है, और रानी शोकाकुल है—क्यों कि उस को अपनी माता से एक पत्र मिला है कि उस की फुफी का पति दृढवर्मा कैद में है और वत्स की सहायता चाहता है। किन्तु विजयसेन कलिङ्गाधीश पर विजयप्राप्ति का समाचार ले कर आता है। दृढवर्मा को अपना राज्य मिल गया है। उस का कञ्चुकी कृतज्ञता का सन्देश ले कर आता है किन्तु दृढवर्मा को अपनी पुत्री के प्रणष्ट हो जाने का शोक है। मनोरमा घबड़ाई हुई वहाँ पर आती है, अरण्यका ने विष खा लिया है! पश्चात्ताप में आ कर वासवदत्ता उस को उपचार के लिए वत्स के पास मंगवा भेजती है। कञ्चुकी राजकुमारी को पहचान लेता है। वत्स की अभिचार-क्रिया से वह सचेत होती है। वासवदत्ता ने देखा, यह तो मेरी बहिन है। उस ने तत्काल ही राजा से उस का पाणि-ग्रहण करा देती है।

नागानन्द—इस में पाँच अङ्क हैं। इस की कथा बौद्ध उपाख्यानों से ली गई है। जीमूतवाहन की असाधारण महानुभावता और आत्म-बलिदान इस का प्रधान विषय है। जीमूतवाहन

के माता पिता तपस्या करने चले गए हैं। विद्याधरों का राज्य-भार उस को उठाना पड़ा है। सिद्धों के राजा मित्रावसु से उस ने परिचय प्राप्त किया है। मित्रावसु की बहिन को स्वप्न में गौरी मिलती है और 'जीमूतवाहन तुम्हारा पति होगा' यह बात उस से कहती है। इस स्वप्न को जब वह अपनी सखी से कह रही थी तो जीमूतवाहन ने सुन लिया। कुछ संकोच करने के बाद दोनों मिलते हैं और पारस्परिक प्रेम को सूचित करते हैं। इतने में आश्रम का एक तपस्वी आ कर उस सिद्धकन्या को ले जाता है।

दूसरे अङ्क में सिद्ध-कन्या मलयवती कामवेदना से अस्वस्थ हो कर उद्यान के एक शिलापट्ट पर लेटी हुई है। उधर से प्रेमोन्मत्त जीमूतवाहन भी आ पहुँचता हे किन्तु जब मित्रावसु अपनी बहिन को विवाह में उसे देना चाहता है तो वह नाहीं कर देता है—उस को अभी तक यह निश्चय नहीं कि मलयवती उसे हृदय से चाहती है या नहीं! मलयवती हताश हो कर आत्मघात करने पर उद्यत होती है किन्तु उस की सखियां उसे रोक लेती हैं और सहायता के लिए पुकारती हैं। जीमूतवाहन आ कर उसे अपने प्रेम का विश्वास दिलाता है। दोनों परस्पर प्रतिज्ञा करते हैं और विवाह हो जाता है।

तीसरे अङ्क में एक परिहासोत्पादक विष्कम्भक के अनन्तर जीमूतवाहन और मलयवती कुसुमोद्यान की सैर करते हुए दिखाई देते हैं। जीमूतवाहन को राज्यापहरण की सूचना मिलती है। वह प्रसन्नतापूर्वक इस समाचार को सुनता है।

चौथे और पाँचवें अङ्क में एक नए ही विषय की अवतारणा की गई है। एक दिन जीमूतवाहन मित्रावसु के साथ सैर करने निकला है तो क्या देखता है कि एक स्थान पर हड्डियों के ढेर लगे हैं। पूछने पर उस को मालूम हुआ कि गरुड़ को नित्यप्रति सर्पों की बलि दी जाती है, उन्हीं की ये हड्डियां हैं। वह अपने मन में निश्चय करता है कि प्राणपण से भी इन को इस महान् सङ्कट से बचाना होगा। चुपके से बलि देने के स्थान पर पहुँचता है। वहाँ उस को शङ्खचूड़ नाग की माता के सिसकने की आवाज़ सुनाई देती है। आज गरुड़ का आहार बनने की शङ्खचूड़ की बारी थी। जीमूतवाहन उस के बदले अपने प्राण देने के लिए उद्यत होता है किन्तु वे नहीं मानते। अवसर पा कर वह चुपके से भेंट हो जाता है। शङ्खचूड़ को जब यह बात मालूम हुई तो वह बहुत पछताया और उस ने गरुड़ से सब भेद कह सुनाया किन्तु अब क्या हो सकता था—जीमूतवाहन अन्तिम सांस ले चुका था। इस के उपरान्त भगवती गौरी प्रकट होती है। विद्याधरराज को पुनर्जीवित कराती है और उस को उस के राज्य में व्यवस्थित कर देती है। अमृत की वृष्टि से मरे हुए सारे नाग जी उठते हैं। गरुड़ अपनी करनी पर पछताता है और भविष्य में अपने दारुण कर्म को छोड़ देने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेता है।

हर्ष की नाटकीय कला और शैली

हर्ष के नाटकों में जितने गुण हैं उतनी वास्तव में उन की प्रशंसा नहीं हुई। निःसन्देह इस का कारण है—कालिदास के

साथ हर्ष की तुलना। यह ठीक है कि उस की नाटिकाओं में मौलिकता का अंश अधिक नहीं है किन्तु उस ने दोनों ही में कथावस्तु को खूब चमत्कृत रूप से ग्रथित किया है। घटना-सन्निवेश में धारावाहिनी गति है और प्रत्येक नाटिका में चातुर्य प्रदर्शित किया गया है। रत्नावली में ऐन्द्रजालिक के हस्तलाघव का दृश्य वाग्विलास और ओजस्विता के साथ अङ्कित किया गया है। तोते का बन्दर के पंजे से छूटना और किलकिलाना बड़ी सरसता से वर्णन किया गया है, और रत्नावली में वस्त्रों की अदलाबदली स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है। प्रियदर्शिका की दोहरी कामेडी अच्छे विचार का फल है। चौथे अङ्क में जो उपजाप किया गया है उस में बड़ी सफाई दिखलाई गई है—हमें भलीभाँति मालूम हो जाता है कि वासवदत्ता स्नेह रखने वाली भानजी है। भौंरे के साथ का दृश्य भी हृदयंगम है। यह सच है कि इन नाटिकाओं में मालविकाग्निमित्र का बहुत कुछ आभास पाया जाता है किन्तु यहाँ तो स्वारस्य से मतलब है, न कि मौलिकता से। हर्ष एक चतुर अपहारक है।

हर्ष का नायक इन दोनों नाटिकाओं में धीरललित है। उस का प्रेम स्थिर नहीं। शहद के लोभी भौंरे की भाँति वह एक कली से उड़ कर दूसरी कली पर जाता है। वह एक चतुर स्त्रैण पुरुष है। वासवदत्ता में महानुभावता और दयालुता तो है किन्तु साथ ही उस के स्वभाव में ईर्षा भी कूट कूट कर भरी है। भास के उदयन और वासवदत्ता में जो

उच्च गुण हैं उन का यहाँ बिल्कुल अभाव है। हर्ष की नायिकाओं में कोई विशेषता नहीं दिखाई देती, सिवाय इस के कि उन की दृष्टि में मोहिनी शक्ति है और वे राजा से प्रेम किए जाने में प्रसन्न हैं। अन्य चरितों में कुछ थोड़ी बहुत विशेषता पाई जाती है।

नागानन्द नाटक के प्रायः सभी चरित अलौकिक हैं। आत्मसमर्पण, दानशीलता, महानुभावता, आदि उदात्त गुणों को इस में व्यक्त किया गया है। पहिले तीन अङ्कों का अन्तिम अङ्कों के साथ ठीक सामञ्जस्य नहीं बैठता। निःसन्देह इस नाटक में स्वाभाविकता और सौष्ठव का अभाव ही प्रतीत होता है।

कल्पनाशक्ति और सौष्ठव में हर्ष कालिदास को नहीं पा सकता, किन्तु उस में यह एक बड़ा भारी गुण है कि उस के भाव और भाषा दोनों सरल हैं, उस की संस्कृत लौकिक और उपयुक्त है, उस के अलङ्कारों के प्रयोग संयत और श्लील हैं।

उस के युद्ध-वर्णन में ओजस्विता है—

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणैः कृत्तोत्तमांगे-
र्मुहुर्व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणैर्घर्मोद्वमद्वाहिनि।
आहूयाजिमुखे स कोशलाधिपतिर्भग्ने प्रधाने बले
एकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः॥

शिरस्त्राणों पर तलवारों के आघात से शिर विदीर्ण हो रहे थे, खून की नदियां बह रही थीं, शब्दायमान प्रहारों से

आग निकल रही थी, जब कोसलराज का प्रधान बल छिन्नभिन्न हो गया तो रुमण्वान् ने युद्ध भूमि के अग्र भाग में उस को जो उस समय एक प्रमत्त हाथी पर चढ़ा हुआ जा रहा था, ललकारा, और अकेले ही अनेकों वाण फेंक कर उस को मार डाला।

शब्द-ध्वनि और भावों का एकीकरण भी प्रशंसनीय है। रुष्ट हुई रानी को मनाने में राजा की सफलता का वर्णन कवि ने इसी ढंग पर किया है—

"सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याधिकम्
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः।
प्रत्यासत्तिमुपागता न हि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्येव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥"

झूठी शपथों से, मधुर भाषण और अनुनयविनय से, अत्यन्त विषाद करने और पैरों पर पड़ने से, अथवा सखियों के समझाने से देवी को इतनी शान्ति नहीं हुई जितनी रो कर आँखों के प्रक्षालनजल से कोप को धो लेने से हुई है।

नागानन्द में विविध रसों का समावेश है। मित्रावसु राजकुमार जीमूतवाहन को सहायता देने में तत्परता प्रकट करता है। उस के शब्दों में ओजस्विता और उत्साह है—

संसर्पद्भिः समन्तात् कृतसकलवियन्मध्ययानैर्विमानैः
कुर्वाणाः प्रावृषीव स्थगितरविरुचः श्यामतां वासरस्य।
एते याताश्च सद्यस्तव वचनमितः प्राप्य युद्धाय सिद्धाः
सिद्धश्चोद्वृत्तशत्रुक्षणभयविनमद्राजकं ते स्वराज्यम् ॥

आप के कहने मात्र की देर है, मेरे सिद्ध लोग अभी चारों ओर से अपने दौड़ते हुए विमानों से आकाशमण्डल को आच्छादित कर के, वर्षा ऋतु में जिस तरह सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ जाता है और दिन में ही अन्धकार छा जाता है उसी तरह सूर्य के तेज को ढाँकते हुए युद्ध के लिए तय्यार हुए हैं; आप के कहने भर की देर है और आप का उद्धत शत्रु अभी विनष्ट हुआ जाता है; आप अपने राज्य को प्राप्त कर लेंगे और शत्रु की इस दुर्गति से भीतचकित हो कर अन्य राजा आप के लिए अपने मस्तक नवावेंगे।

किन्तु जीमूतवाहन को इन बातों से क्या? वह तो दूसरों के लिए अपना शरीर तक देने को तय्यार है, फिर और लोगों का खून बहा कर वह राज्य की लिप्सा कैसे कर सकता है:—

स्वशरीरमपि परार्थे यः खलु दद्यामयाचितः कृपया।

राजयस्य कृते स कथं प्राणिवधक्रौर्यमनुमन्ये

परन्तु हर्ष की विशेषता श्रृङ्गाररस के वर्णन में है। तीर चलाने में कामदेव की सिद्धहस्तता वर्णन करते हुए कवि कहता है:—

"मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लक्ष्यं च तथापि मे।

अनंगेन कथं विद्धं समं सर्वशिलीमुखैः॥"

मन स्वभाव ही से चञ्चल और दुर्लक्ष्य होता है, तो भी कामदेव ने अपने सब वाणों से एक साथ ही मेरे मन को कैसे वेध डाला!

महेन्द्रविक्रम

महेन्द्रविक्रम हर्ष का समकालीन था। इस का पिता सिंहविष्णुवर्मा राजा था और इस ने स्वयं भी काञ्ची में राज्य किया। इस ने मत्तविलास नाम का एक प्रहसन लिखा है। किन्हीं विशेष उत्कृष्टताओं के कारण नहीं किन्तु दैवयोग से यह प्रहसन हम तक पहुँचा है।

इस प्रहसन की स्थापना आदि का भासनाटकों से बहुत सादृश्य है। इस लिए प्रोफैसर बारनेट आदि का विचार है कि भासनाटक भी इसी समय लिखे गए हैं।

——:o:——

भवभूति

भवभूति के तीन नाटक

भवभूति ने तीन नाटक लिखे हैं—महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित।

महावीरचरित—इस की कथा संक्षेप से इस प्रकार है :—

विश्वामित्र के आश्रम में राम और लक्ष्मण की सीता और ऊर्मिला से भेंट होती है और वे क्रमशः उन के प्रेम में आसक्त हो जाते हैं। किन्तु इतने में रावण का सन्देश मिलता है कि सीता का विवाह उस के साथ किया जाए। राम ताड़का नाम की राक्षसी को पराजित करते हैं। विश्वामित्र उन को दिव्य अस्त्र देते हैं और शिव के धनुष का आह्वान कर के राम से कहते हैं, यदि तुम इस धनुष को झुका लोगे तो सीता तुम को व्याही जावेगी। राम धनुष को तोड़ते हैं और रावण के दूत क्रोध में आ कर वहाँ से चल देते हैं। दूसरे अंक में रावण के मन्त्री माल्यवान् के प्रोत्साहन से शिव के धनुष को तोड़ने का बदला लेने के लिए परशुराम मिथिला में पहुँचते हैं। तीसरे अंक के अन्त तक राम और परशुराम का खूब वादविवाद होता है। वशिष्ठ, विश्वामित्र, शतानन्द, जनक और दशरथ झगड़ा निवारण करने के लिए व्यर्थ ही प्रयत्न करते हैं।

चौथे अंक में हम सुनते हैं कि परशुराम हार गया है और उस ने राम के सामने शिर झुका लिया है। माल्यवान् अब एक और उपाय सोचता है। उस की बहिन शूर्पणखा कैकेयी की चेरी मन्थरा

का वेश धारण कर के कैकेयी की ओर से एक बनावटी पत्र ले कर राम के पास पहुँचती है। पत्र में लिखा है कि दशरथ ने कैकेयी को जो दो वर दिए थे उन को पूरा करने के लिए राम को चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार करना चाहिए और उस के बदले भरत को राज्य दिया जाना चाहिए। इसी बीच भरत और उस के चाचा युधाजित् ने राजा दशरथ से राम को राज्य देने का आग्रह किया। राजा तो इस बात को चाहता ही था किन्तु राम ने आ कर सब हाल सुनाया और सीता और लक्ष्मण के साथ वन के लिए प्रस्थान किया। भरत को राम का प्रतिनिधि बन कर राज्य करना पड़ा।

पाँचवें अंक में जटायु और सम्पाति के संवाद से पता लगता है कि राम ने वन में बहुत से राक्षसों को मार डाला है। सम्पाति सचिन्त है औद वह जटायु को राम की रक्षा करने का आदेश देता है। जटायु अपने कर्तव्य पर तत्पर है। वह इतने में क्या देखता है कि रावण सीता को हर कर ले जा रहा है। वह तुरन्त उस के साथ युद्ध करने लगता है और उस में मारा जाता है। राम और लक्ष्मण विलाप करते हुए वन में भटक रहे हैं। एक तपस्वी आ कर उन को समाचार देता है। ऋष्यमुख पर्वत पर रावण का भाई विभीषण, जो लंका से निकाला गया है, उन से मिलना चाहता है। माल्यवान् के कहने से वाली उन को वहाँ आने से रोकता है और आख़िर राम से मारा जाता है। उस का भाई सुग्रीव राम की सहायता करने को तय्यार होता है।

छठे अंक में माल्यवान् बिषण्णावस्था में दिखाई देता है। उस को समाचार मिलता है कि हनुमान ने लंका में आग लगा दी है। रावण सीता के लिए पागल हो रहा है। मन्दोदरी उस को समझाती है कि शत्रु दरवाज़े पर आ पहुँचा है किन्तु उस को अपनी मदान्धता में कुछ नहीं सूझता। इस के बाद राम का दूत अंगद आता है। रावण उस को दंड देना चाहता है किन्तु वह वहाँ से भाग निकलता है। अन्त में रावण मारा जाता है। अग्नि में सीता के सतीत्व की परीक्षा होती है और राम आकाशमार्ग से सकुशल अयोध्या को वापिस आते हैं। विश्वामित्र उन का राज्यभिषेक करते हैं।

मालतीमाधव—इस की कथाय द्यपि भवभूति से पहिले भी प्रचलित थी किन्तु उस कथा को उस ने अपनी कल्पना से इतना चमत्कृत किया है कि वह एक नई वस्तु बन गई है। कथा के संकेतमात्र से कवि की प्रतिभाशक्ति इतनी स्फुरित हुई है कि मालतीमाधव को नाटकीय कला के परिगणन में ऊंचा स्थान प्राप्त हुआ है।

मालतीमाधव की कथा इस प्रकार है—पद्मावती के राजा का मन्त्री भूरिवसु अपनी पुत्री मालती का अपने पुराने मित्र विदर्भराज्य के मंत्री देवरात के पुत्र माधव के साथ पाणि-ग्रहण कराने के लिए बौद्धसंन्यासिनी कामन्दकी को प्रेरित करता है। देवरात ने भी अपने मित्र को विद्यार्थि-काल की प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाने के अभिप्राय से माधव को न्याय पढ़ने के लिए पद्मावती में भेज दिया है। यह सब प्रपञ्च इस

लिए रचा जाता है कि पद्मावती के राजा का नर्मसचिव नन्दन राजा की सहायता से मालती से विवाह करने के लिए उतारू हो रहा है। राजा को अप्रसन्न करना कल्याण-प्रद नहीं। अतएव भूरिवसु स्वयं तटस्थ रह कर गुप्त उपायों से मालती और माधव के मिलन की आयोजना करवाता है, जिस से राजा भी अप्रसन्न न हो और मनोरथ भी सिद्ध हो जाए। माधव और मालती की जब परस्पर चार आंखें होती हैं तो वे एक दूसरे के रूप-लावण्य पर मुग्ध हो जाते हैं।

तीसरे अंक में जब वे शिव के मन्दिर में मिलते हैं तो मालती की सखी, नन्दन की बहिन—मदयन्तिका पिंजड़े से भागे हुए एक सिंह से अभिभूत होती है। माधव का सखा मकरन्द अपने प्राणों की कुछ परवाह न कर सिंह से उस को बचाता है और दोनों का परस्पर प्रेम हो जाता है।

चौथे अङ्क में हम देखते हैं कि राजा ने मालती का विवाह नन्दन के साथ निश्चित कर लिया है। विवाह की तय्यारी हो रही है। माधव हताश हो कर श्मशान में जा कर भूत-सिद्धि करना चाहता है।

पाँचवें अङ्क में माधव मांस लिए हुए श्मशान में फिर रहा है। बड़ा भयावना और बीभत्स दृश्य है। भूत-प्रेत निःशङ्क हो कर सड़े-गले नर-मांस को भक्षण कर रहे हैं। श्मशाननदी अस्थिपञ्जरों पर टकराती हुई घर्घर-रव कर रही है। सियार और गीदड़ बोल रहे हैं। पास ही कराला का मन्दिर है। माधव ने सुना, मन्दिर की ओर से बड़ा

करुण क्रन्दन आ रहा है । मन्दिर में पहुँचता है तो क्या देखता है कि अघोरघण्ट नाम का कापालिक और उस की शिष्या कपालकुण्डला मालती को देवी की भेंट करना चाहते हैं। अघोरघंट को मार कर वह उस की रक्षा करता है ।

छटे अङ्क में कपालकुण्डला बदला लेने की शपथ खाती है किन्तु अङ्क का पर्यवसान अच्छा ही होता है । मालती का विवाह नन्दन के साथ होने वाला है । विवाह से पूर्व वह पूजन के लिए मन्दिर में जाती है । वहीं से मकरन्द दुलहिन के वेष में विवाह के लिए आता है और मालती माधव के साथ भाग निकलती है । नन्दन दुलहिन को ले कर घर पहुँचता है ।

सातवें अङ्क में वह दुलहिन से प्रत्यादिष्ट होता है । उस की बहिन अपनी भावज को समझाने आती है किन्तु अपने प्रेमी मकरन्द को पहचान कर उस के साथ वहाँ से चल देती है । राजपुरुष उन का पीछा करते हैं ।

आठवें अङ्क में हम माधव को उन की रक्षा के लिए युद्ध करते हुए पाते हैं । उस ने शत्रु को ऐसी वीरता से परास्त किया कि राजा ने प्रसन्न हो कर सब क्षमा कर दिया । इसी गड़बड़ में कपालकुण्डला को मौका मिला । वह मालती को हर ले गई !

नवें अङ्क में माधव प्रमत्त की भाँति मालती की ढूँढ़ में वन वन फिरता है । उसके विलाप में वह कभी मूर्छित होता है तो कभी वन के जीवों को पूछता है । जड़ वस्तुओं को सम्बोधन करता है । वर्षा काल के मेघ को अपना सन्देश-हर बनाता है—भगवन् जीमूत संसार में विचरण करते हुए यदि कहीं मेरी प्यारी

मालती को देखो तो पहिले उस का आश्वासन कर फिर उस के प्रति माधव की दशा को निवेदन करना। इस बात का ध्यान रखना कि मेरी दशा को वर्णन करते हुए कहीं तुम आशा-बन्धन ही को न तोड़ डालना—बात को बहुत बढ़ा कर न कहना, क्योंकि वह आशाबन्ध ही किसी तरह उस के प्राणों को रखे हुए है—

"दैवात्पश्येर्जगति विचरन्मत्प्रियां मालतीं चे-
दाश्वास्यादौ तदनु कथयेर्माधवीयामवस्थाम् ।
आशातन्तुर्न च कथयतात्यन्तमुच्छेदनीयः
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः ॥"

उस का सखा मकरन्द भी उस के साथ में है। दोनों ही कर्तव्यविमूढ हो रहे हैं। किन्तु भाग्यवश कामन्दकी की शिष्या सौदामिनी मालती को कपालकुण्डला से छुड़ा लाती है। दशवें अङ्क के आरम्भ में विलाप का एक और दृश्य दिखाई देता है इस के बाद मालती और माधव लौट आते हैं और राजा की अनुमति से उन का विवाह हो जाता है।

उत्तरचरित—इस में राम के लङ्का से लौट आने के बाद का चरित है। प्रजारञ्जन के लिए राम ने सीता को निर्वासित किया है। दूसरे अङ्क में एक ब्राह्मण बालक को पुनर्जीवित करने के लिए अनिच्छापूर्वक एक शूद्रमुनि को मारते हैं। मरते ही वह दिव्य स्वरूप धारण करता है और राम को अगस्त्य मुनि के आश्रम में ले जाता है। इधर राम के अश्वमेध की तय्यारी हो

रही थी। आत्रेयी और वासन्ती की वार्तालाप से हम को यह भी मालूम होता है कि वाल्मीकि के आश्रम में दो लड़के शिक्षा पा रहे हैं जो किसी देवता से उन के सुपुर्द किए गए थे। तीसरे अङ्क में तमसा और मुरला की बातचीत से मालूम होता है कि सीतादेवी प्राणत्याग करना चाहती थी किन्तु गंगा के कहने से वह इस साहस से रुक गई और अपने पुत्र लव और कुश को वाल्मीकि को सौंप कर स्वयं अन्तर्हित हो गई। इस के बाद छाया-सीता और राम पञ्चवटी आदि अपने पूर्व परिचित स्थानों को देख देख कर मूर्छित होते हैं। छाया-सीता अपने हाथ से राम का स्पर्श करती है। राम मूर्छा से जागते हैं और उस को न देख कर फिर मूर्छित हो जाते हैं।

नाटकीय दृष्टि एवं कवित्व के लिहाज़ से तीसरा अङ्क उत्तर-चरित में अत्यन्त उत्कृष्ट कल्पना है। इस के उपरान्त के अङ्कों का नाटकीय महत्त्व बहुत कम है। भवभूति ने रामायणीय कथा में जो उलट फेर किया है उस से उन का नाटक चमत्कृत न हो कर उलटा शिथिल सा हो गया है। काव्य-न्याय (Poetic justice) का गला घोंट कर उन्होंने उत्तरचरित को कृत्रिमता के रङ्ग में रङ्ग दिया है। अस्तु, चौथे अङ्क में कौशल्या, वसिष्ठ, जनक आदि आश्रम में पहुँचते हैं। वहाँ जनक और कौशल्या की भेंट होती है। लव की ओर उन का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित होता है। वह आश्रम के निकट आए हुए राम के अश्वमेध के घोड़े को रोकता है। पाँचवें और छठे अङ्क में लव और चन्द्रकेतु के युद्ध आदि का वर्णन, राम का लव और कुश से मिलना और उन की

सराहना करना, इत्यादि बातें हैं। सातवें अङ्क में बाल्मीकि ने भरत मुनि के बनाए हुए एक नाटक का अभिनय करवाया है जिस में सीता के निर्वासनदुःखों को प्रदर्शित किया गया है। इस अभिनय को देख कर राम वार वार मूर्छित होते हैं। अकस्मात् सीता को ले कर अरुन्धती आती है। वाल्मीकि लव और कुश को राम के सामने लाते हैं। प्रजा के अनुमोदन से राम सीतादेवी को ग्रहण करते हैं।

भवभूति की नाटकीय कला और शैली

सम्भवतः मालतीमाधव 'प्रकरण' के लिखने में भवभूति को मृच्छकटिक के लेखक से स्पर्धा करने के विचार ने प्रेरित किया होगा, यद्यपि यहाँ मृच्छकटिक का जैसा परिहास-गर्भ वाग्विलास नहीं है। भवभूति स्वयं गम्भीर-प्रकृति थे। उन को विदूषक जैसे पात्रों की तुच्छता अच्छी न लगी होगी—उन की उदात्त भारती ने इस प्रकार के चित्रण में अवश्य संकोच किया होगा। प्रोफेसर कीथ का विचार है कि भवभूति यदि विदूषक का चित्रण करने भी बैठते तो वह उस में सफल नहीं हो सकते थे। इस लिए उन्होंने जान बूझ कर उसे छोड़ दिया है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। भवभूति परिहास-शीलता का चित्र न उतार सकते हों, यह बात नहीं है। बात वास्तव में यह है कि उन्हें मूर्ख का हंसना अच्छा नहीं लगता—उन्हें तो एक महानुभाव की मुसकराहट ही में आनन्द आता है। जहाँ कहीं पर उन्होंने परिहास की अवतारणा की है वह निःसन्देह ही प्रभावोत्पादक हुई है। अस्तु, भवभूति ने विदूषक

को स्थान नहीं दिया। परिहास की जगह वीर, बीभत्स, रौद्र आदि रसों की अवतारणा की है—श्रृङ्गार के साथ उन का अपूर्व मेल करवाया है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि कथा-सूत्र उचित से अधिक आकस्मिक घटनाओं पर निर्भर है इस लिए उस में अस्वाभाविकता आ गई है। शेक्सपियर के कई नाटकों में क्या इन आकस्मिक घटनाओं की कुछ कमी है, किन्तु कौन कहता है कि उन में स्वाभाविकता नहीं है? क्या जीवन में ऐसी घटनाएँ हुआ नहीं करती? हाँ, इतना तो कहना ही पड़ेगा कि कपालकुण्डला के द्वारा मालती का अपहरण कुछ कृत्रिम सा है। भवभूति ने मालतीमाधव के कथा भाग को कथासरित्सागर से लिया है। कालिदास के मेघदूत और विक्रमोर्वशी की छाया भी उस पर पड़ी है। भवभूति की मौलिकता कथा की कल्पना करने में नहीं किन्तु घटनाओं को कथासूत्र में गांठने में है।

महावीरचरित में मालतीमाधव की जैसी कोई नवीनता नहीं है। घटनाओं को कथासूत्र में पिरोने का प्रयास प्रशंसनीय है किन्तु उस में कोई विशेष सफलता नहीं हुई। इस का कारण है—लम्बे लम्बे क्लिष्ट वाक्यों का प्रयोग, वार्तालाप की प्रधानता और नाटकीय गति की मन्दता। माल्यवान् और शूर्पणखा, जटायु और सम्पाति, इन्द्र और चित्ररथ, एवं अलका और लङ्का की वार्तालाप में कोई नाटकीयत्व नहीं। राम और परशुराम के सम्वाद से भवभूति का कवित्व तो अवश्य प्रकट होता है किन्तु नाटकीय दृष्टि से वह मन को उद्विग्न करने

वाला और नाटक की गति का अवरोधक है। परन्तु भरत का वह दृश्य जहाँ पर वह राम के नाम से ही शासनभार उठाने की प्रतिज्ञा करता है एवं बाली और सुग्रीव का दृश्य प्रभावोत्पादक हैं। जब कि उत्कृष्ट अभिरुचि के साथ बाली को ऐसा शत्रु बनाया गया है जो माल्यवान् की बुरी सलाह से राम का प्रतिरोध करता है—रामायणीय भ्रातृविग्रह और धोखा यहाँ पर अन्तर्हित हो जाते हैं। चरित-चित्रण कुछ शिथिल ही सा है। राम और सीता के चरित में उद्वेगजनक समता और निर्दोषता है। माल्यवान् और रावण में कोई असाधारणता नहीं।

उत्तरचरित का नाटकीय महत्त्व, महावीरचरित और मालतीमाधव से बढ़ कर नहीं। बारह वर्ष के दीर्घ काल की घटनाओं को कथा-सूत्र में गांठ कर नाटकीय दृष्टि से प्रभावोत्पादक बनाना कोई खेल नहीं है और न ही भवभूति ने उस के लिए चेष्टा की है। पहिले अङ्क में खूब कौशल प्रदर्शित किया गया है। आलेख्य-दर्शन की कल्पना अत्यन्त उत्कृष्ट है। सीता के निर्वासन में यह एक बड़ी भारी सुविधा उपस्थित की गई है। चित्र को देख कर सीता फिर से अपने वनवास के स्थानों को देखने के लिए उत्कण्ठित होती है—उस को क्या मालूम कि यह कल्याणकारिणी उत्कण्ठा नहीं ! राम को निर्दोष बनाने का भी अच्छा ढंग सोचा गया है; प्रजा-रञ्जन के लिए यदि सीता को भी त्यागना पड़े तो भी संकोच न करना होगा ! वशिष्ठ, कौशल्या आदि घर के बड़े बूढ़े, मन्त्री आदि तो उस समय वहाँ हैं ही नहीं जो राम को इस साहस के काम से रोकते।

तीसरे अंक में सीता की राममयजीविता का सुन्दर सौष्ठव-पूर्ण चित्र उतारा गया है। सीता आत्मचिन्ताशून्य है—राम के हित में ही वह अपना हित समझती हैं। अपने हृदयेश को देखते ही उस का विशाल हृदय द्रवीभूत हो जाता है। वह एक बार अपने निर्वासन के दुःखों को भूल जाती है। वासन्ती राम को उन की निष्ठुरता का स्मरण दिला कर कहती है—"*अयि देव, किं परं दारुणः खल्वसि*", महाराज, सचमुच आप बड़े निर्दयी हैं। इस पर सीतादेवी अपने उदारताभरे वचनों में उस को तनिक झिड़क देती हैं—"*सखि वासन्ति, किं त्वमेवं-वादिनी भवसि। पूजार्हः सर्वस्यार्यपुत्रो विशेषतो मम प्रियसख्याः।*"—सखि वासन्ति, तुम ऐसा क्यों कहती हो? आर्यपुत्र सब के पूजनीय हैं, विशेषतया मेरी प्यारी सखी के। वासन्ती से न रहा गया। वह राम की निष्ठुरता का वर्णन करते हुए स्वयं मूर्छित हो गई। जब मूर्छा से जागी तो दीर्घ साँस लेकर फिर कहने लगी—"*तत्किमिदमकार्यमनुष्ठितं देवेन।*" सीता ने देखा यह तो हद हो गई, 'बस, सखि वासन्ति, बस, बहुत हो गया, अब चुप हो जाओ—"*सखि वासन्ति, विरम विरम।*" उस का हृदय राम के विशुद्ध प्रेम को जानता है—जो अपने किए हुए पर आप ही दुःखी हैं। उन को और दुःखाना हृदय की क्षुद्रता है। लव का स्वाभिमान भी एक सुन्दर कल्पना है। सातवाँ अंक भी नाटकीय दृष्टि से बुरा नहीं है। जनक और कौशल्या का चित्रण प्रभावोत्पादक है। उन के विलाप में सरलता और

स्वाभाविकता है । अन्यान्य चरितों में कोई ख़ास विशेषता नहीं है ।

कवित्व की दृष्टि से उत्तरचरित की उत्कृष्टता स्पष्ट और निर्विवाद सिद्ध है। भवभूति स्वयं गम्भीरस्वभाव थे। उन को मनुष्यस्वभाव और प्रकृति की ओजःप्राण और भव्य बातें ही अच्छी लगती हैं। क्षुद्रता से उन को स्वाभाविक अरुचि है। इस नाटक में राम और उन के वीर पुत्र की समरोचित व्यग्रता और निर्वासन-शल्य से पीड़ित महारानी सीता के प्रतिकूल दैव-जन्य अविरत कारुण्य का सुन्दर संमिश्रण है । पहिले तीन अंकों में वन, पर्वत और नदियों के वर्णन करने में उन को प्रकृति की भीषण और मृदु अवस्थाओं को दर्शाने का महान् सुयोग मिला है। प्राकृतिक वैभव में जो कुछ भयावह और विभूतिमान् है उस की ओर भवभूति का चित्त आकर्षित होता है, कालिदास के मर्यादित प्रकृति-प्रेम में यह बात नहीं है ।

भवभूति के लिए सृष्टि एक रहस्य है। प्रेम को लक्ष्य करके वे कहते हैं—

"व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः-
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।"

चेतनाचेतन भावों को मिलाने वाला कोई अनिर्वर्णनीय, गूढ कारण होता है; निस्सन्देह प्रीति बाह्य निमित्तों पर निर्भर नहीं होती।' आत्म-समर्पण उन की दृष्टि में वास्तविक है। राम विना किसी वेदना के स्नेह, दया, सौख्य यहाँ तक कि सीता को भी त्यागने के लिए उद्युत हैं—परमार्थ के लिए नहीं किन्तु प्रजा

रञ्जन के लिए। मित्रता को वे एक परम पुनीत सम्बन्ध समझते हैं—द्वेष, प्रतारणा आदि के लिए उस में कोई स्थान नहीं। उन की प्रेम-कल्पना भी प्रशंसनीय है। सच्चा प्रेम सब दशाओं में एक-रस रहता है। सुखदुःख का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। अवस्था-भेद से उस में कोई विकृति नहीं आती। उस से हृदय को सान्त्वना मिलती है। काल-क्रम से ज्यों ज्यों पारस्परिक संकोच दूर होता जाता है वह अधिक मृदुल और मूल्यवान होता जाता है,—यह परमानन्द प्रत्येक के भाग्य में नहीं होता, यह एक कष्ट साध्य वस्तु है—

"अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थ्यते॥"

सन्तति दाम्पत्य-प्रेम को एक सूत्र में ग्रथित करती है।

भवभूति की शैली उदात्त है। प्रौढत्व, वाग्वैभव, भावगाम्भीर्य—*यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम्"* ये सभी गुण उन की रचना में विद्यमान हैं। भवभूति ने अपनी रचना में गौडी रीति को ग्रहण किया है जिस का प्रधान लक्षण है—समासभूयस्त्व, और जिस का उद्देश्य है—भाषा को ओज-स्विनी बनाना। किन्तु नाटकीय दृष्टि से इस का फल अच्छा नहीं हुआ। स्थल स्थल पर भाषा में क्लिष्टता और अस्वाभाविकता आ गई है जिन का होना नाटक में सिवाय दूषण के और कुछ नहीं

कहा जा सकता। उदाहरणार्थ निम्नलिखित वाक्य सीता के मुख में कितना अस्वाभाविक मालूम होता है—

"अह्महे, दलन्तणवणीलुप्पलसामलसिणिद्धमसिणसोहमाणमंसलेन देहसोहग्गेण विह्मअत्थिमिदतादद्दीसन्तसोम्मसुन्दरसिरी अणादरत्थुडिदसंकरसरासणो सिहण्डमुद्धमुहमण्डलो अज्जउतो आलिहिदो।

इस से कवि का पाण्डित्य भले ही प्रकट होता हो किन्तु नाटकीयगुणों का यह सर्वथा अपकर्षक है। सम्भवतः बाण के यश को सुनकर भवभूति का जी ललचाया हो किन्तु उसे यह तो सोचना चाहिए था कि बाण की तरह वे उपन्यास लिखने नहीं बैठा है; *"ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्"* यह नियम नाटक के गद्य के लिए कभी उत्कर्षाकारी नहीं हो सकता। कालिदास का जैसा माधुर्य और स्वारस्य एवं ध्वन्यात्मक व्यङ्ग्य भवभूति में नहीं है। मिल्टन की तरह ये भी पाण्डित्य के फेर में पड़ कर काव्य-कला में कालिदास से बहुत पीछे रह गए हैं। किन्तु इस से यह नहीं समझना चाहिए कि भवभूति सरल और स्वाभाविक ढँग पर लिखना ही न जानते थे। छठे अंक में मालती के प्रेम की पराकाष्ठा पर मुग्ध होकर माधव कहता है—

"म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि।
आनन्दनानि हृदयैकरसायनानि
दिष्ट्या मयाप्यधिगतानि वचोऽमृतानि॥"

सौभाग्य से मैं ने मालती के वचनामृत को सुन लिया है। ये वचन मेरे मुरझाए हुए जीवरूपी कुसुम को विकसित करने वाले, चित्त को आनन्द देने वाले, इन्द्रियों को मुग्ध करने वाले और हृदय में सञ्जीवनी शक्ति का सञ्चार करने वाले हैं।

सातवें अंक में बुद्धरक्षिता मदयन्तिका को मकरन्द के साथ भागने के लिए प्रोत्साहन देते हुए कहती है—

"प्रेयान्मनोरथसहस्रवृतः स एष
सुप्तप्रमत्तजनमेतदमात्यवेश्म ।
प्रौढं तमः कुरु कृतज्ञतयैव भद्र-
मुत्क्षिप्तमूकमणिनूपुरमेहि यामः ॥"

जिस को तुम ने सहस्रों आशाओं का केन्द्र कल्पित किया था वही यह तुम्हारा प्राण-वल्लभ है। यहाँ मन्त्री के घर के लोग कुछ तो सोये हुए हैं और कुछ शराब के नशे में चूर हैं। गाढ़ा अन्धकार छाया हुआ है। अतएव पूर्व कृतज्ञता का स्मरण कर के अभीष्ट सम्पादन करो। आओ, मणिमय नूपुरों को समेट कर चुपके से यहाँ से चल दें।

समागमसमय मालती और माधव के प्रति कामन्दकी का प्रशंसनीय उपदेश इस से कम प्रभावोत्पादक नहीं—

"प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा
सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा ।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसा-
मित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु ॥"

तुम दोनों को यह विदित होना चाहिए कि स्त्री के लिए पति और पति के लिए स्त्री परस्पर परम सुहृद, सकल बन्धु-वर्ग, सम्पूर्ण मनोरथ, सम्पत्ति, यही नहीं—जीवनसर्वस्व है।

दशवें अंक में मालतीविषयक कामन्दकी का विलाप भी सुन्दर रमणीय पदावली में हुआ है—

आजन्मनः प्रतिमुहूर्तविशेषरम्याण्या-
चेष्टितानि तव सम्प्रति तानि तानि ।
चाटूनि चारुमधुराणि च संस्मृतानि
देहं दहन्ति हृदयं च विदारयन्ति ॥

इस समय तुम्हारी प्रतिक्षण विकसित, विविध प्रकार की मनोहर बाल-चेष्टाओं और सुचारु एवं मधुर चाटूक्तियों को स्मरण करने से मेरा शरीर सन्तप्त हो रहा है और हृदय फटा जाता है।

आधुनिक अभिरुचि के अनुसार ऐसी ही सरल और सरस उक्तियां नाटक में प्रशंसनीय समझी जाती हैं । क्या ही अच्छा होता कि भवभूति ने सर्वत्र ऐसी ही सरलता से काम लिया होता। यहाँ पर यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि उन की रचना में उत्तरोत्तर स्वारस्य और सरलता की कुछ अभिवृद्धि हुई है। महावीरचरित की क्लिष्टता और वर्णनाधिक्य उत्तरचरित में बहुत कुछ कम हो गए हैं। पहिले अंक का वह दृश्य अत्यन्त हृदयंगम है जहाँ पर सीता आलेख्य-दर्शन के अनन्तर श्रान्त हो कर राम की भुजा पर—वह भुजा जिसकी अधिकारिणी

कोई अन्य स्त्री नहीं हो सकती और जिस पर सीतादेवी ने नित्यप्रति निद्रा-सुख का अनुभव किया है, उस भुजा पर—विश्राम करती हैं और राम उन को देख देख कर मन ही मन प्रेमभरे वचनों में सराहना करते हैं—

"इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि वहुलश्चन्दनरसः ।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥"

यह मेरे घर में साक्षात् लक्ष्मी है, आंखों के लिए अमृत की शलाका है, इस का स्पर्श गाढा चन्दन-रस जैसा है, इस की भुजा मेरे गले में मोतियों की माला की भाँति शीतल और स्निग्ध हैं; सीता की ऐसी कौन सी बात है जो मुझ को प्रिय न हो, सिवाय इस के वियोग-जनित दुःख के। राम कह ही रहे थे कि इतने में प्रतीहारी आ कर कहती है—"देव, उपस्थितः"—महाराज, आ गया। उस का अभिप्राय है, गुप्तचर दुर्मुख आ गया; दर्शक समझते है, वियोग समय आ गया जिस पर राम अभी खेद प्रकट कर रहे थे ।

लव और चन्द्रकेतु का एक दूसरे के प्रति सहज सत्कार, जो उन के प्रथम मिलन के समय उत्पन्न होता है, सुचारु रूप से वर्णन किया गया है—

यदृच्छासम्पातः किमु गुणगणानामतिशयः
पुराणो वा जन्मान्तरनिबिडबद्धः परिचयः ।

निजो वा सम्बन्धः किमु विधिवशात्कोऽप्यविदितः ।

ममैतस्मिन्दृष्टे हृदयमवधानं रचयति ॥

एक दूसरे को देखकर दोनों अपने अपने मन में सोचते हैं, मेरा हृदय इस वीर को देखते ही आकृष्ट हो गया है, इस का क्या कारण है ? क्या यह आकस्मिक मिलन ही इस ममता का कारण है अथवा इस की गुणगरिमा का अतिशय या प्राक्तन सम्बन्ध या कोई वंश-सम्बन्ध, जो दैवयोग से इस समय अज्ञात है, इस में निमित्त है।

राम के प्रति वासन्ती की निर्भर्त्सना और मूर्च्छित होना प्रभावोत्पादक है—

"त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं

त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमंगे ।

इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां

तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥"

तुम मेरा जीवन हो, मेरा द्वितीय हृदय हो, मेरी आँखों के लिए चन्द्रमा की चांदनी और शरीर के लिए अमृत हो; इसी प्रकार की सैंकड़ों चाटूक्तियों से तुम ने उस मुग्धा को वशीभूत किया किन्तु शोक ! उसी को इस समय—अथवा आगे कहने से क्या ?

———

विशाखदत्त

विशाखदत्त का समय

महाराज भास्करदत्त अथवा मन्त्री पृथु के पुत्र और सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र हमारे कविवर विशाखदत्त किस समय विद्यमान थे, यह बात अभी तक केवल कल्पना ही के आधार पर स्थित है। न तो इन का और न इन के पिता और पितामह का ही अन्यत्र कहीं उल्लेख मिलता है। मुद्राराक्षस की किसी किसी हस्तलिखित प्रति के भरत-वाक्य में अवन्तिवर्मन् नाम पाया जाता है। इस नाम के आधार पर दो प्रकार से विशाखदत्त के काल का निर्णय किया गया है। अवन्तिवर्मा या तो मौखरी राजा हो सकता है जिस के पुत्र ने हर्ष की पुत्री से विवाह किया था, या कश्मीर का राजा अवन्तिवर्मा जिस का शासन-काल ८५५ से ८८३ ई० तक माना जाता है। जैकोबि (Jacobi) के मत से मुद्राराक्षस में वर्णित ग्रहण और ता० २ दिसम्बर ८६० का ग्रहण एक ही हैं और इसी दिन राजमन्त्री शूर ने इस नाटक का अभिनय करवाया था। इस चातुर्ययुक्त संमिश्रण के समर्थन में अथवा उस के विपरीत कोई संशयच्छेदी युक्ति नहीं है। कोनौ (Konow) ने भरतवाक्य के चन्द्रगुप्त नाम के आधार पर विशाखदत्त को कालिदास का समकालीन बनाया है किन्तु यह निरी कल्पना है। विशाखदत्त की रचना में रत्नाकर का कुछ आभास मिलता है किन्तु कालनिर्णय में यह भी कोई प्रबल युक्ति नहीं है। इस से भी कम युक्ति-युक्त यह कल्पना है कि एक हस्तलिखित प्रति में नान्दी नहीं है, क्योंकि यह

दक्षिणी हस्तलिखित लिपियों में प्रायः स्वाभाविक है। कोई युक्ति ऐसी नहीं है जो हमें विशाखदत्त को नवीं शताब्दी में रखने से रोके। सम्भव है वह इस से भी कुछ पहिले रहा हो।

मुद्राराक्षस

मुद्राराक्षस संस्कृत के प्रधान नाटकों में से एक है। राजनैतिक उपजाप इस का विषय है जिस का केन्द्र नन्द-मन्त्री राक्षस है। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त और पर्वतेश को अपने पक्ष में कर नन्द-वंश को विनष्ट किया है। इस विनाश का बदला लेने के लिए स्वामिभक्त सचिव बद्धपरिकर होता है किन्तु चतुर खिलाड़ी चाणक्य के सामने उस की चालें विफल ही नहीं होतीं किन्तु उल्टा उसी को क्षति पहुँचाती हैं—चाणक्य की कुटिल नीति के आगे उस का कोई वश नहीं चलता। जब राक्षस से पाटलिपुत्र नगर की रक्षा न हो सकी तो उस ने उस को शत्रु के हवाले कर दिया। नन्द-वंश का अन्तिम अधिकारी सर्वार्थसिद्धि संन्यास ले कर वन को चला गया और राक्षस अन्यत्र जा कर प्रतीकार के उपाय सोचने लगा। चन्द्रगुप्त पर उस ने विष-कन्या का प्रयोग करने का प्रयास किया। उस का विपरीत फल हुआ; चाणक्य की धूर्तता से उलटा पर्वतेश मारा गया। इस से एक प्रकार से राक्षस के लिए अच्छा ही हुआ, क्योंकि पर्वतेश का लड़का मलयकेतु चन्द्रगुप्त को छोड़ कर उस के पक्ष में हो गया और अन्य कई राजाओं की सहायता से राजधानी पर आक्रमण करने की तय्यारी करने लगा। पहिले अंक में हमें चाणक्य की नीतियों का पता लगता है। वह नन्दवंश

से घृणा करता है। राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनाने का उस ने दृढ निश्चय कर लिया है क्योंकि वह राक्षस की गुणगरिमा से परिचित है और उसे स्वयं शासन करने की लिप्सा नहीं। उस का गुप्तचर निपुणक प्रवेश करता है। उस ने पता लगाया है कि एक जैन जीवसिद्धि राजा के विरुद्ध है—वास्तव में यह भी चाणक्य का ही गुप्तचर था। शकटदास कायस्थ और चन्दनदास वणिक् वास्तविक शत्रु हैं। चन्दनदास के घर में राक्षस का कुटुम्ब है। भाग्यवश राक्षस की मुद्रिका निपुणक के हाथ लगी है जो कि उस के पुत्र की उंगली से गिर पड़ी थी। चाणक्य को मौका मिला। वह एक पत्र लिखता है और शकटदास से उस की नकल करवा कर उस पर राक्षस की मुद्रा की मोहर लगता है। इस के उपरान्त शकटदास पकड़ा जाता है किन्तु चाणक्य का गुप्तचर सिद्धार्थक उस को फांसी से बचा कर राक्षस के पास ले जाता है। जीवसिद्धि को देशनिकाले का दण्ड मिलता है और चन्दनदास राक्षस के कुटुम्ब को अपने घर में रखने के अपराध में फाँसी की प्रतीक्षा करने के लिए क़ैदखाने में रखा जाता है। अन्त में यह सूचना मिलती है कि भागुरायण आदि राज-सभा के लोग भाग गए हैं। चाणक्य प्रशंसनीय शान्ति के साथ इस समाचार को सुनता है क्योंकि वे भी उसी के दूत हैं।

दूसरे अंक में राक्षस की नीति का वर्णन है। विराधक सँपेरे के वेश में उस के पास बुरा समाचार ले कर आता है। राज्याभिषेक द्वार के नीचे जाते हुए चन्द्र-गुप्त को मारने की जो युक्ति सोची गई थी वह विफल हो गई है। मलयकेतु का

चाचा वैरोधक जो वहीं पाटलिपुत्र में रहता था और जिस को चाणक्य ने आधा राज्य देने का प्रलोभन दे कर अभिषेक-द्वार के नीचे से हो कर जाने को कहा था, मारा गया है। अभयदत्त, जिस ने उस को विष देना चाहा था, उसी विष पीने के लिए विवश किया गया है। कञ्चुकी प्रमोदक ने रिशवत के लिए भेजे हुए धन का दुरुपयोग किया है और दुर्दशा के साथ विनष्ट हो गया है। वे वीर पुरुष जो सुरंग से राजा के शयनागार में जाने को थे पकड़ लिए गए हैं और सुरंग के अन्दर जला कर मार दिए गए हैं। जीवसिद्धि को देशनिकाला कर दिया गया है और शकटदास और चन्दनदास को फाँसी की आज्ञा हुई है। इस दुःख की कहानी का अन्त करने के लिए सिद्धार्थक के साथ शकटदास आ पहुँचता है और राक्षस को उस की मुद्रिका दे कर, जो उस ने चन्दनदास के घर पाई थी, उसी के परिवार-वर्ग में रहने की आज्ञा लेता है। अब विराधक एक अच्छी खबर सुनाता है। चन्द्र-गुप्त चाणक्य से खिन्न हो गया है। इसी समय राक्षस से विनति की जाती है कि एक गहना बेचने वाला आया है, वे लेना चाहते हैं या नहीं। वह गहना लेने के लिए शकटदास को भेज देता है—उसे क्या मालूम कि यह चाणक्य ने उस को फंसाने का उपाय रचा है?

तीसरे अङ्क में चाणक्य की नैतिक उत्कृष्टता का वर्णन है। उस के और चन्द्रगुप्त के वादविवाद का एक सुन्दर दृश्य दिखाई देता है जिस में राजा ने उस से प्रश्न किया है कि विन राजाज्ञा के उत्सव मनाना बंद क्यों किया गया है। राजा उस

की भर्त्सना करता है। मन्त्री चाणक्य उस पर कृतघ्नता और अविनीतता का दोष लगा कर उस को ताना देता है, मन्त्रि-पद को त्यागता है और क्रोधाविष्ट हो कर वहाँ से चला जाता है। इस कपट-रचना को खास खास आदमियों को छोड़ कर और कोई नहीं जानता और राक्षस का फिर से भाग्यउदय होता दीखता है।

चौथे अङ्क में यह आशा निराशा में परिणत होने लगती है। भागुरायण राक्षस के विरुद्ध मलयकेतु से मनोमालिन्य पैदा करने वाली बातें कहता है। वह कहता है कि राक्षस चन्द्रगुप्त का वास्तविक शत्रु नहीं है, चाणक्य के चले जाने पर फिर कोई अड़चन ऐसी नहीं रह जाती जो उस को चन्द्रगुप्त से मित्रता करने से रोके। मलयकेतु द्विविधा में पड़ जाता है और जब वह राक्षस को प्रसन्नता से यह समाचार सुनते हुए देख लेता है कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य में वैमनस्य हो गया है तो उस का सन्देह बढ़ने लगता है। राक्षस ने उत्कण्ठापूर्वक कहा, अब तो चन्द्रगुप्त मेरे हाथ में आया। मलयकेतु ने इस का अभिप्राय उलटा समझा। उस का संशय और भी दृढ़ हो गया। मन्त्री राक्षस के साथ बात-चीत करने पर भी उस का संशय ज्यों का त्यों बना रहा—अब शत्रु के विरुद्ध बढ़ने से उस का हृदय उस को रोकने लगा। अङ्क के अन्त में जीवसिद्धि राक्षस के पास आता है, जो व्यर्थ उस से आगे बढ़ने की सलाह लेने का प्रयत्न करता है। मलयकेतु यह कह कर टालने की कोशिश करता है कि ज्योतिष के अनुसार अभी मुहूर्त अशुभ है।

पाँचवें अङ्क में प्रयत्न सफल होता है । सब से पहिले जीवसिद्धि भागुरायण के पास आता है जिस को शिविर से बाहर जाने वालों को पास देने का अधिकार है। पास लेने के उद्देश्य से वह दिखावटी अनिच्छा से इस बात को स्वीकार करता है कि उस को राक्षस का भय है जिस ने पर्वतेश को विष देने की युक्ति रचने में उस की सहायता ली थी और जो अब उस को मारना चाहता है। मलयकेतु, जो इस वार्तालाप को सुन लेता है, क्रोध के कारण आपे से बाहर हो जाता है । उस ने सोचा था चाणक्य ने उस के पिता को मरवाया है। भागुरायण ने किसी तरह उस को समझाया कि सम्भव है राक्षस का कार्य न्याय-सम्मत हो—सहसा बदला लेना ठीक नहीं। किन्तु इसी समय सिद्धार्थक बिना पासपोर्ट लिए भागने के अपराध में पकड़ा जाता है। पीटे जाने पर वह राक्षस के विरुद्ध साक्ष्य देता है—पहिले अङ्क में शकटदास से लिखे पत्र को दिखा कर, जिस को वह कहता है कि वह राक्षस की ओर से चन्द्रगुप्त के पास ले जाने को था। एक मणि भी जिस पर राक्षस की मोहर थी—वह मणि जिस को मलयकेतु ने राक्षस को दिया था और जिस को उस ने शकटदास को बचाने के लिए सिद्धार्थक को दिया था, उस के पास थी। इस के अतिरिक्त उस ने यह भी कहा कि राक्षस ने मौखिक सन्देश भी चन्द्रगुप्त के लिए भेजा था जिस में विद्रोही राजाओं की शर्तें और चाणक्य को अलग करवाने की अपनी शर्त भी कहलवा भेजी थी। मलयकेतु इन सब प्रमाणों को उस के सामने पेश करता है। मन्त्री की स्थिति आरम्भ ही से ख़राब हो चली है, क्योंकि इन्हीं कल्पित

विद्रोही राजाओं को उस ने राजा की रक्षा के लिए नियत किया था जिस का आशय राजा ने स्वभावतः उलटा समझा। राक्षस को अब कुछ नहीं सूझता। वह सन्देश को मिथ्या कह सकता है किन्तु मोहर और लेख के विषय में तो कोई सन्देह हो नहीं सकता। क्या शकटदास ने भय से तो धोखा नहीं दिया है? नहीं, उस के विरुद्ध भी प्रमाण मौजूद है—वह एक सुन्दर मणि को पहिने हुए है जो दूसरे अङ्क में राक्षस ने मोल ली थी। यह मणि मलयकेतु के पिता की थी जिस को वह कहता है राक्षस ने अपने षड्यन्त्र के मूल्य में शकटदास को दिया होगा। क्रोध में आ कर यह मूर्ख राजा उन मित्र राजाओं को जीते जी गाड़ने की आज्ञा देता है जिन्हों ने, वह समझता है, राज्य के लोभ से ऐसा दुष्कर्म करना चाहा और उन को जिन्होंने उस के हाथियों को लेने के लिए ऐसा किया हाथी के पावों से कुचलवाने का आदेश करता है। सब व्यवस्था गड़बड़ हो जाती है और राक्षस जो कि अभिमान के साथ छोड़ दिया जाता है अपने मित्र चन्दनदास को बचाने के लिये वहाँ से चला जाता है।

छठे अङ्क में हम राक्षस को अपनी युक्तियों की विफलता पर और अपने मित्र की दुर्दशा पर सोचते हुए पाते हैं। चन्द्रगुप्त का एक गुप्तचर उस के सन्मुख आता है जो अपने आप को चन्दनदास के सुहृद, जिष्णुदास का मित्र प्रसिद्ध करता है। इस गुप्तचर से राक्षस को मालूम होता है कि उस के मित्र चन्दनदास को उस के कुटुम्ब को अपने घर में रखने के

अपराध में फांसी मिलने वाली है। सातवें अङ्क में वह देखता है कि चन्दनदास शूली पर चढ़ाने के लिए लिवाया जा रहा है। उस की स्त्री और पुत्र भी साथ हैं। स्त्री ने भी अपने पति के साथ ही प्राणत्याग करने का निश्चय कर लिया है। इतने में राक्षस सन्मुख आ कर उपस्थित होता है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त भी वहाँ पर पहुँचते हैं। राक्षस को विवश हो कर चन्द्रगुप्त का साचिव्य स्वीकार करना पड़ता है—अपने प्राण बचाने के प्रयोजन से नहीं किन्तु अपने प्रिय मित्र चन्दनदास को प्राणसंकट से बचाने के लिए। समाचार मिलता है कि मलयकेतु पकड़ लिया गया है। अमात्य राक्षस के कहने से वह मुक्त कर दिया जाता है और उस का राज्य उस को वापिस दिया जाता है। चन्दनदास को पुरस्कार दिया जाता है और सब अपराधियों के अपराध क्षमा कर दिए जाते हैं। कार्यसिद्धि हो जाने पर चाणक्य ने अपने हृदय की उदारता को महानुभावता से प्रकट किया है—

"सहवाहनहस्तिभ्यां मुच्यतां सर्वबन्धनम् ।
मया पूर्णप्रतिज्ञेनकेवलं बध्यते शिखा ॥"

नाटकीय कार्योद्वाह में कभी हृदयंगमता का ह्रास नहीं होता, चाणक्य और राक्षस के चरितों में अति मनोहर विपरीतता है। हर एक ही अपने अपने ढंग से प्रशंसनीय है—चाणक्य नन्दों के प्रति अपनी अटल और समुचित घृणा में, राक्षस नन्दवंश के प्रति अपनी अनन्य भक्ति, अपने मित्र चन्दनदास को बचाने के उच्च अभिलाष और दूसरों के हित के

लिये एक अनभिलषित राज्य की अधीनता स्वीकार करने में। इन दोनों का चरित प्राचीन भारतीय राजनीति का सुन्दर सजीव चित्र है। अन्यान्य चरित भी मनोरञ्जक हैं। सिद्धार्थक और समिद्धार्थक वे भद्र पुरुष हैं जो चाणक्य के उद्देश्य को पूरा करने के लिए अन्तिम अङ्क में चाण्डाल का वेश धारण करते हैं। निपुणक की निपुणता तो राक्षस की मुद्रिका प्राप्त करने में प्रकट ही है। विराधक का गुप्तचरत्व, शकटदास की नेकनियती चन्दनदास की महानुभावता, और उस की पत्नी की हार्दिक उच्चता सब अनुभव करने की वस्तु हैं। चन्द्रगुप्त और मलयकेतु का वैपरीत्य भी देखने योग्य है। चन्द्रगुप्त में विचार-प्रौढता और यौवनावस्था का उत्साह है तो मलयकेतु में वह निर्बल दुःशीलता है जिस से वह मनुष्यों के गुणों को नहीं जान सकता और प्रवञ्चना के आधार पर सहसा निर्दयता से मित्र राजाओं को मरवा डालता है। भागुरायण का चरितचित्रण भी बड़ी सावधानी से हुआ है। वह चन्द्रगुप्त के हितसाधन के लिए मलयकेतु को मित्र बन कर धोखा देता है—उस को अपने इस कर्म से घृणा है किन्तु वह सोचता है कि इस में अपना क्या वश है, पराधीन रह कर भी मनुष्य उचित अनुचित का विचार करे यह कब हो सकता है?

विशाखदत्त की शैली प्रभावोत्पादक और सुस्पष्ट है। उस का नाटक वीररस-प्रधान है। स्त्री-पात्र तो उस में हैं ही नहीं—केवल एक वार चन्दनदास की स्त्री रङ्गमञ्च पर दिखाई देती है और जब हम उस देवी के दर्शन करते हैं तो हमारा हृदय स्वतः ही उन्नत हो जाता है। विशाखदत्त सचमुच कला-

कोविद है । नाटकीय सौष्ठव को दूषित करने वाली क्लिष्ट कल्पना, लम्बे लम्बे समास, वर्णनाधिक्य आदि से वह स्वतन्त्र है। उस के नाटक में एक प्रकार की धारावाहिनी गति है । बीच बीच में आनुषंगिक बातों में रुकना उस की प्रकृति के प्रतिकूल है।

मलयकेतु की द्विविधा को कवि ने कितनी संक्षिप्त किन्तु प्रभावशालिनी भाषा में व्यक्त किया है—

"भक्त्या नन्दकुलानुरागदृढया नन्दान्वयावलम्बिना,
किं चाणक्यनिराकृतेन कृतिना मौर्य्येण संधास्यते ?
स्थैर्य्यं भक्तिगुणस्य वा विगणयन् किं सत्यसन्धो भवेत् ?
इत्यारूढकुलालचक्रमिव मे चेतश्चिरं भ्राम्यति ॥"

क्या अमात्य राक्षस नन्दकुल में सुदृढ़ भक्ति के कारण नन्दवंशधर चन्द्रगुप्त से, जिस ने चाणक्य को निकाल दिया है, सन्धि करेगा, अथवा मेरी भक्ति की स्थिरता का ख़याल करके अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करेगा, इस प्रकार के तर्क वितर्क में पड़ कर मेरा मन कुलाल के चक्र की भाँति घूम रहा है।

अपनी ह्रासशील शक्तियों का वर्णन कञ्चुकी जिस ढंग से करता है उस में अपूर्व आकर्षण है—

"रूपादीन् विषयान्निरूप्य करणैर्यैरात्मलाभस्त्वया,
लब्धस्तेष्वपि चक्षुरादिषु हताः स्वार्थावबोधक्रियाः ।
अंगानि प्रसभं त्यजन्ति पटुतामाज्ञाविधेयानि मे
न्यस्तं मूर्द्धनि पदं तवैव जरया, तृष्णे मुधा माद्यसि ॥"

हे तृष्णे, जिन इन्द्रियों से तू ने रूपादि विषयों का निरूपण कर के अपने मनोरथ सिद्ध किए, उन की काम करने का शक्ति नष्ट हो गई है, मेरे अङ्ग अब मेरी आज्ञा पालन नहीं करते और उन में पहिले की जैसी पटुता भी नहीं रही। वृद्धावस्था ने शिर पर पदार्पण किया है । हे तृष्णे, इस समय तुम यर्थ ही बढ़ रही हो।

दूसरे अङ्क में राक्षस के समरोचित साहस का सुन्दर सराहनीय चित्र उतारा गया है—

''प्राकारान् परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्षिप्यतां,
द्वारेषु द्विरदैः परद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम्।
मुक्त्वा मृत्युभयं प्रहर्तुमनसः शत्रोर्बले दुर्बले,
ते निर्यान्तु मया सहैकमनसो येषामभीष्टं यशः॥''

मोर्चाबंदी के चारों ओर तुरन्त ही धनुर्धारियों को रख दो, द्वारदेशों पर ऐसे प्रबल हाथियों को खड़ा कर दो जो शत्रु के हाथियों की घटा को भेदने में समर्थ हों, शत्रुदल को काटने की उत्सुकता में भय को एक किनारे रख दो, और वे सब जिन को यश प्यारा है एक चित्त हो कर मेरे साथ चलें।

कर्तव्य-भार बड़ी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त किया गया है—

''किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि? क्ष्मां न क्षिपत्येष यत्,
किं वा नास्ति परिश्रमो दिनपतेः? आस्ते न यन्निश्चलः।

किन्त्वंगीकृतमुत्सृजन् कृपणवत् श्लाघ्यो जनो लज्जते,

निर्व्वाहःप्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम् ॥"

शेषनाग पृथ्वी को अपने शिर से अलग नहीं फेंक देता तो क्या इस का यह कारण है कि उस के शरीर को भार का कष्ट ही नहीं होता? क्या सूर्य इस लिए नहीं विराम करता कि उस को थकावट ही नहीं होती? नहीं, यह बात नहीं है। कारण यह है कि महानुभाव क्षुद्र मनुष्य की भाँति अंगीकार किए हुए को छोड़ने में लजाते हैं। सत्पुरुषों का यह एक कुल-व्रत है कि वे अङ्गीकृत का निर्वाह करते हैं।

अपने मित्र को बचने के लिए राक्षस ने जो निश्चय किया है उस से भी प्रभाव टपकता है—

"औदासीन्यं न युक्तं, प्रियसुहृदि गते मत्कृते चातिघोरां

व्यापत्तिं, ज्ञातमस्य स्वतनुमहमिमां निष्क्रियं कल्पयामि ॥"

मेरा प्यारा सुहृद् मेरे कारण घोर विपत्ति में पड़ा हुआ है, ऐसी दशा में उदासीन रहना उचित नहीं। मालूम हो गया, अपने शरीर के मूल्य से मैं इस के शरीर को बचाऊंगा।

———

भट्टनारायण

भट्टनारायण का समय निश्चित नहीं है । वामन और आनन्दवर्धन ने उस को उद्धृत किया है, इस से मालूम होता है कि वह ८०० ई० से पूर्व विद्यमान था । ठाकुर-वंश के श्रोत्र-परम्परा के अनुसार भट्टनारायण एक ब्राह्मण था । आदिसूर ने उस को कान्यकुब्ज से बंगाल में बुलाया था । यह सूरवंश ८वीं शताब्दी में राज्य करता था । यह कहा जाता है कि सूरवंश मगध के गुप्तवंश का समकक्ष था। इस के अनुसार आदित्यसेन और आदिसूर एक ही ठहरते हैं । आदित्यसेन ६७१ में विद्यमान था । किन्तु यह सब अनुमान मात्र ही है ।

वेणीसंहार-नाटक

भट्टनारायण ने अपने नाटक के विषय को महाभारत से लिया है । द्यूतसभा में दुःशासन ने द्रौपदी को केश पकड़ कर खींचा था । द्रौपदी ने प्रतिज्ञा की कि जब तक इस अपमान का बदला नहीं लिया जावेगा मैं अपने केशों को नहीं बाँधूंगी । भीम ने इस प्रतिज्ञा को पूरा करवाया ।

पहिले अङ्क में हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण सन्धि का संदेश लेकर कौरवों के पास गए हैं । इस पर भीम क्रोधित हो रहे हैं । सहदेव उन को शान्त करने की चेष्टा करता है । किन्तु भीम की क्रोधाग्नि को प्रज्वलित करनेवाली एक और घटना घटती है—दुर्योधन की स्त्री भानुमती ने द्रौपदी के लिये अवमानना सूचक शब्द कहे हैं; उधर कौरवों ने सन्धि

के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। युद्ध अनिवार्य हो गया।

दूसरे अङ्क में भानुमती का स्वप्न है। उस ने स्वप्न में देखा कि एक नकुल ने एक सौ साँपों को मार डाला है और नकुल के सौन्दर्य पर मुग्ध हो कर उस ने उस को देखने के लिए कुञ्ज में प्रवेश किया है। स्वप्न की बातें वह अपनी सहेली से कह रही थी। पहिले दुर्योधन के मन में, जो इन बातों को सुन रहा था, कुछ सन्देह हुआ किन्तु आख़िर उस को मालूम हुआ, यह स्वप्न सम्बन्धी बातें हैं। भानुमती इस दुःस्वप्न के प्रतीकार के लिए सूर्य की उपासना करती है। दुर्योधन भी वहाँ उपस्थित होता है। इतने में एक बड़ा तूफान आता है और दोनों अन्दर जा कर कुछ प्रेम की बातें करते हैं। जयद्रथ की माता वहाँ पहुँचती है—अपना दुखड़ा सुनाने के लिए, पुत्र की मृत्यु से क्रोध में आ कर अर्जुन ने जयद्रथ को मारने की दृढ़ प्रतिज्ञा की है। किन्तु दुर्योधन हंस कर कहता है—पाण्डवों के पौरुष को तो हम ने उसी समय देख लिया था जिस समय द्यूतसभा में वे चुपचाप द्रौपदी को अपमानित होते हुए देख रहे थे। आखिर दुर्योधन युद्ध के लिए तय्यार होता है।

तीसरे अङ्क में द्रोणाचार्य की मृत्यु, अश्वत्थामा का विलाप, कर्ण और अश्वत्थामा का आपस में वैमनस्य, भीम का दुःशासन के मारने के लिए रणक्षेत्र में प्रवेश, कर्ण और दुर्योधन का उस के सन्मुख जाना इत्यादि बातों का वर्णन है।

चौथे अङ्क में दुर्योधन घायल पड़ा है। कुछ सचेत होने पर उस को मालूम होता है कि दुःशासन मारा गया है और सम्पूर्ण कुरु-कुल विपद्-ग्रस्त है।

पाँचवें अङ्क में धृतराष्ट्र, गांधारी और सञ्जय दुर्योधन से आग्रह करते हैं कि पाण्डवों से मेल कर ले किन्तु इस का कोई फल नहीं होता। कर्ण मारा जाता है। इस बात को सुन कर दुर्योधन अकेले ही युद्ध के लिए तय्यार होता है। अश्वत्थामा उस से मेल करना चाहता है किन्तु अवमानित हो कर चला जाता है। धृतराष्ट्र उस को शान्त करने के लिए पीछे से सञ्जय को भेजता है।

छठे अङ्क में दुर्योधन की मृत्यु का समाचार मिलता है और द्रौपदी अपनी वेणी को बांधती है।

वेणीसंहार में नाटकीयत्व बहुत कम है। वर्णनाधिक्य से कार्य-गति रुद्ध हो गई है। तथापि चरित्रचित्रण अच्छा है। दुर्योधन अस्पृहणीय है। उस में दर्प, दुःशीलता, अहंमन्यता, स्वार्थान्धता आदि अवगुण भरे पड़े हैं। वह भानुमती की अनिष्टाशंका पर हंस देता है और जब जयद्रथ की माता अपने पुत्र के लिए चिन्तित होती है तो वह उस के लिए कोई सहानुभूति नहीं दिखाता। वह द्रोण और अश्वत्थामा पर अकारण संशय करता है जिस का फल यह होता है कि वे हतोत्साह हो कर उस को यथेष्ट लाभ नहीं पहुँचा सकते। कर्ण की द्वेषपूर्ण मन्त्रणा को वह स्वीकार करता है किन्तु उसे उस के जीने मरने की कोई परवाह नहीं। अर्जुन एक बड़ा वीर है किन्तु उस

में दुःशीलता नहीं। वह संयम से काम लेना जानता है। कृष्ण की मध्यस्थता में बुद्धिमत्ता और उभयपक्ष-चिन्तना है। युधिष्ठिर गम्भीर-प्रकृति है और वे प्रजा के हित में ही अपना हित समझता है। भयङ्कर और करुण का अच्छा संमिश्रण है किन्तु प्रणय-कल्पना प्रभावोत्पादक नहीं। भट्टनारायण की शैली सुस्पष्ट है और उस में ओजस्विता अथवा उदात्त गुणों का अभाव नहीं।

———

मुरारि

मुरारि मौद्गल्यगोत्रीय श्रीवर्धमानक का पुत्र था। उस की माता का नाम तन्तुमती था। उस का समय निश्चित नहीं। निःसन्देह वह भवभूति का उत्तरकालीन था क्योंकि उस ने उत्तरचरित से कुछ पद्य उद्धृत किए हैं। काश्मीरी कवि रत्नाकर ने अपने 'हरविजय' में मुरारि का उल्लेख किया है। रत्नाकर नवीं शताब्दी के मध्य में विद्यमान था, अतएव यह मुरारि का अन्तिम समय कहा जा सकता है। प्रोफ़ैसर कोनौ ने निर्देश किया है कि मंख के श्रीकण्ठचरित (११३५ ई०) में मुरारि का जो उल्लेख है उस से मालूम होता है कि वह राजशेखर का पूर्वकालीन था। इस से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। इस के अतिरिक्त जयदेव ने अपने प्रसन्नराघव में एक स्थल पर मुरारि का अनुकरण किया है।

अनर्घराघव—मुरारि अनर्घराघव की प्रस्तावना में कहता है कि उस का प्रयास उदात्त, वीर और सर्वथा चमत्कृत गुणों से युक्त निबन्ध के द्वारा उन लोगों को प्रसन्न करने के लिए है जो रौद्र, भयङ्कर आदि उद्वेजक रसों से उद्विग्न हैं। स्वभावतः ऐसे महत् विषय के लिए राम का चरित उचित समझा गया। किन्तु उस में सफलता प्राप्त करने के लिए एक महती प्रतिभा की आवश्यकता थी। भवभूति जिस विषय पर अपनी कलम तोड़ चुके थे उस को चमत्कृत बनाना हर एक का काम नहीं हो सकता था। मुरारि की प्रतिभाशक्ति भवभूति की अपेक्षा निःसन्देह निम्न श्रेणी की थी।

अनर्घराघव की कथा संक्षेप से इस प्रकार है—राजा दशरथ वामदेव से बातचीत कर रहे हैं। विश्वामित्र आते हैं और अपने आश्रम की रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को मांगते हैं। बहुत कुछ संकोच और दुःख के साथ राजा इस ऋषि-प्रार्थना को स्वीकार करता है। राम लक्ष्मण के साथ चले गए हैं। दो पहर दिन चढ़ आया है। राजा पुत्रवियोग के सोच में पड़े हैं।

दूसरे अङ्क में विश्वामित्र के शिष्यों के मुख से हम को बाली, रावण, अन्यान्य राक्षसों, जामवन्त, हनुमान् और ताड़का का परिचय मिलता है। विश्वामित्र आश्रम में पहुँचते हैं। मध्याह्नकाल और सन्ध्या का वर्णन सुनाई देता है। नेपथ्य में शब्द होता है। ताड़का राक्षसी आती है। राम कुछ संकोच के बाद उस का बध करने जाते हैं। तदनन्तर विश्वामित्र मिथिला जाने का प्रस्ताव करते हैं।

तीसरे अङ्क में हम सुनते हैं कि जनक की पुत्री विवाह के योग्य हो गई है। उस के स्वयंवर के लिए मिथिला में धनुषयज्ञ रचा गया है। रावण का दूत शौष्कल भी वहाँ पहुँचता है और अपने स्वामी के लिए सीता को मांगता है। विवाह की शर्त है कि जो शिव के धनुष को झुका सकेगा उसी को सीता ब्याही जावेगी किन्तु रावण इस शर्त को पूरा किए विना ही सीता को लेना चाहता है। आखिर राम धनुष को तोड़ कर सीता को प्राप्त करते हैं। उन के भाइयों का भी अन्य राज-

कुमारियों से विवाह होता है और शौष्कल रुष्ट हो कर वहाँ से चला जाता है।

चौथे अङ्क में रावण का मन्त्री माल्यवान् शूर्पणखा को मन्थरा के वेश में राजा दशरथ से कैकेयी के दो वर मांगने के लिए भेजता है जिन में से एक यह है कि राम को वनवास दिया जाय। इस से पहिले राम और परशुराम का विवाद होता है। दोनों अपने अपने धनुषों का संधान करते हैं, इतने में नेपथ्य से आवाज़ आती है। हम मालूम करते हैं कि सीता इस बात के लिए चिन्तित हैं कि कहीं ऐसा न हो कि किसी अन्य स्त्री के लिए राम अपना धनुष उठा रहे हों ! परशुराम शान्त हो कर वहाँ से चलते हैं। मन्थरावेशधारिणी शूर्पणखा आती है जनक और दशरथ उस की बातों से मूर्छित हो जाते हैं, राम लक्ष्मण को यह खबर सुनाने के लिए सीता के पास भेजते हैं।

पाँचवें अङ्क में सीता का अपहरण, जटायु और रावण का संघर्ष, सुग्रीव की मित्रता आदि का वर्णन है। छठे अङ्क में सेतुतरण और राक्षसों के साथ युद्ध होता है। मेघनाद, कुम्भकर्ण, रावण, सभी मारे जाते हैं। अन्त में सातवें अङ्क में सीता सहित राम, लक्ष्मण, बिभीषण और सुग्रीव कुवेर के विमान पर पर बैठ कर सुमेरु पर्वत, चन्द्रलोक, वन पर्वतों और देशों की सैर करते हुए अयोध्या को वापिस आते हैं।

नाटकीय दृष्टि से मुरारि का महत्त्व बहुत कम है, उस में चरितचित्रण का अभाव है। कथांश में भी कल्पना का कोई विशेष चमत्कार दृष्टिगोचर नहीं होता। क्लिष्ट कल्पना, यमक

श्लेष आदि से नाटकीय सौष्ठव में और भी कमी आ गई है। किन्तु मुरारि का भाषाधिकार और भावों को व्यक्त करने की शक्ति बहुत बढ़ी हुई है। यदि उस में मुग्ध करने वाली कोई बात है तो वह है उस का अगाध पाण्डित्य और असाधारण भाषाधिकार।

राजशेखर

राजशेखर ने अपने विषय में बहुत कुछ लिखा है; आत्मश्लाघा करने में उस को कोई संकोच नहीं। महाराष्ट्र के यायावर क्षत्रिय-वंश में उस ने जन्म लिया। उस के कहने के अनुसार राम उस के पूर्व पुरखा थे। उस का पिता दुर्दुक या दुहिक राजमन्त्री था और उस की माता का नाम शीलवती था। राजशेखर अकालजलद का पौत्र और सुरानन्द, तरल और कविराज का वंशधर था; ये सभी नामी कवि हुए हैं। उस की पत्नी चाहमानवंशजा एक अवन्तिसुन्दरी थी। वह शैव सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता था।

कर्पूरमञ्जरी में उस ने उल्लेख किया है कि वह निर्भय या निर्भर का गुरु था। यह निर्भय निःसन्देह कन्नौज का प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल था जिस के विषय में सन् ८९३ और ९०७ ई० के उल्लेख मौजूद हैं। बालरामायण महेन्द्रपाल के कहने से लिखी गई थी। मालूम होता है एक और राजा के यहाँ भी वह गया था, क्योंकि विद्धशालभञ्जिका त्रिपुरी के युवराज केयूरवर्ष के लिए लिखी गई थी। परन्तु उस का असमाप्त बालभारत महेन्द्रपाल के उत्तराधिकारी महीपाल के लिए लिखा गया था जिस का शासन ९१४ से आरम्भ होता है। इस से मालूम होता है कि वह प्रतिहारराज्य में वापिस आया और वहीं उस की मृत्यु हुई। बालरामायण में वह अपने छः ग्रन्थों का ज़िक्र करता है जिन में विद्धशालभञ्जिका और बालभारत सम्मिलित नहीं किए जा सकते।

राजशेखर के नाटक

बालरामायण एक महानाटक है। दश लम्बे लम्बे अङ्कों में इस की समाप्ति हुई है। इस की नवीनता यह है कि इस में रावण के प्रेम को प्रधानता दी गई है। पहिले अङ्क में रावण स्वयं सीता के स्वयंवर में आता है किन्तु वह धनुष खींचने से इनकार करता है और यह धमकी दे कर वहाँ से चला जाता है कि जो कोई सीता को विवाहेगा वह अपना कल्याण न समझे। दूसरे अङ्क में वह परशुराम से सहायता लेना चाहता है किन्तु सहायता के बदले उस को अवमानना मिलती है और दोनों में युद्ध होते होते बच जाता है। तीसरे अङ्क में उस के सन्मुख ही सीता का विवाह होता है जिस से उस को अत्यन्त परिखेद होता है। वह विक्षेप करना चाहता है किन्तु सफलमनोरथ नहीं होता। चौथे अङ्क में राम और परशुराम के संघर्ष का वर्णन है। पाँचवें अङ्क में हम देखते हैं कि रावण सीता के लिए पागल हो रहा है। इतने में राम से अभिभूत और विकृत हो कर शूर्पणखा आती है जिस से रावण की क्रोधाग्नि भड़क उठती है। अगले अङ्क में दशरथ की मृत्यु तक का हाल है। सातवें अङ्क में सेतुबन्ध का वर्णन है। माल्यवान् ने अपनी छलनीति से काम लिया। सीता का एक कृत्रिम शिर समुद्र के किनारे फेंका गया किन्तु उस का यह धोखा मालूम हो गया। आठवें अङ्क में रावण महान् सङ्कट में पड़ा हुआ है। आपत्ति पर आपत्ति उपस्थित हो रही है। नवें अङ्क में राम और रावण के अन्तिम युद्ध, और दशवें अङ्क में राम के अयोध्या आने और राज्यभिषेक का हाल है।

बालभारत में केवल द्यूतसभा में द्रौपदी की अवमानना तक का वर्णन है। कर्पूरमञ्जरी अलङ्कारशास्त्र के अनुसार सट्टक है। इस के सभी पात्र प्राकृत बोलते हैं। इस में राजा चण्डपाल और कुन्तल-राजकुमारी कर्पूरमञ्जरी की प्रणय-कथा है। पहिले अङ्क में एक ऐन्द्रजालिक भैरवानन्द राजा और रानी को कर्पूरमञ्जरी की प्रतिच्छाया दिखाता है। यह प्रतिच्छाया राजकुमारी की सब कथा कहती है और रानी उस को परिचारिका बनाने का निश्चय कर लेती है। राजा उस के प्रेम में मुग्ध हो जाता है। दूसरे अङ्क में प्रणयविनिमय होता है। राजा ने उस को झूलते हुए और अशोक वृक्ष को पुष्पित करते हुए देखा। रानी को पता लग गया। वह कर्पूर-मञ्जरी को बन्दीगृह में भेज देती है। राजा बन्धनागार तक एक सुरंग खुदवाता है। तीसरे अङ्क में दोनों उद्यान में क्रीडा करते हुए रानी से देखे जाते हैं। चौथे अङ्क में सुरङ्ग का उद्यान की ओर का मुख बन्द मिलता है किन्तु चामुण्डा के मन्दिर की मूर्ति के पीछे दूसरा मार्ग-द्वार निकाल लिया गया है। रानी प्रलोभन में आ कर राजा से उस का प्रभाव बढ़ाने के लिए लाट देश की राजकुमारी से विवाह करने का आग्रह करती है। वह राजप्रा-साद में है किन्तु ऐन्द्रजालिक उस को वहाँ उपस्थित कर सकता है। विवाह होता है किन्तु राजकुमारी कर्पूरमञ्जरी को छोड़ कर अन्य कोई नहीं!

विद्धशालभञ्जिका नाटिका है। इस में भी इसी तरह की एक प्रणय-कथा है। विद्याधरमल्ल का सामंत चन्द्रवर्मा अपनी

लड़की मृगाङ्कवती को अपने पुत्र के वेश में उस के पास भेजता है। विद्याधरमल्ल स्वप्न में एक सुन्दर युवती को देखता है जो उस के गले में मुक्तामाला डालती है। फिर वह अपनी चित्र-शाला में उस की प्रतिमा को देखता है। एक वार उस का साक्षात् दर्शन भी होता है। इस के बाद वह मृगाङ्कवती को उद्यान में क्रीडा करते हुए और प्रणय-पत्र पढ़ते हुए देखता है। अन्त में कुछ रोचक घटनाओं के अनन्तर उस का मृगाङ्कवती के साथ विवाह हो जाता ह।

राजशेखर की शैली

राजशेखर की भाषा सरस और सरल है। उस की कर्पूरमञ्जरी ही एक ऐसी नाटिका है जिस में संस्कृत नहीं पाई जाती। प्राकृत नाटकों का यह एक ही अवशेष है।

इस में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि राजशेखर की रचना निर्दोष नहीं है। चरित्रचित्रण में व्यक्तिगतता और स्वारस्य लाना उस की शक्ति के बाहर है। विद्याधरमल्ल अपने प्रत्यादर्श, बिलासशील और दाक्षिण्ययुक्त वत्स, के समक्ष बिल्कुल रूखा और अरुचिकर लगता है। रानी में न तो वासवदत्ता जैसा प्रेम है और न उस की महानुभावता। भागुरायण यौगन्धरायण का विछिन्न और अस्पष्ट प्रतिबिम्ब है। उस की नायिकाओं में कोई विशेषता नहीं। इसी प्रकार कला-सम्बन्धी और भी कितने ही दोष उस में पाए जाते हैं।

यह सब कुछ होते हुए भी राजशेखर की शैली और भावों को प्रभावोत्पादक ढँग पर व्यक्त करने की शक्ति सराह-

नीय है। संस्कृत एवं प्राकृत छन्दों के प्रयोग में वह सिद्धहस्त है। अन्य उत्तरकालीन नाटककारों की भाँति, ललित मनोहर पदावली की रचना करने में वह सर्वथा समर्थ है। विद्धशालभञ्जिका का मङ्गलाचरण निःसन्देह लालित्य से भरा हुआ है—

कुलगुरुरबलानां केलिदीक्षाप्रदाने
परमसुहृदनंगो रोहिणीवल्लभस्य।
अपि कुसुमपृषत्कैर्देवदेवस्य जेता
जयति सुरतलीला नाटिका सूत्रधारः॥

कामकेलि की दीक्षा देने में युवतियों का कुल-गुरु, चन्द्रमा का परम मित्र, पुष्पों के अति स्निग्ध वाणों से महादेव जी को जीतने वाला, रति-लीला के अभिनय का सूत्रधार, भगवान् अनङ्ग हमेशा विजय को प्राप्त करता है।

उस के सब नाटकों में कर्पूरमञ्जरी ही ऐसी है जिस से राजशेखर की वास्तविक कवित्वशक्ति का पता चलता है, यद्यपि तीसरे अङ्क में प्रेम का चित्रण कुछ क्षुद्र सा ही हुआ है। झूले के दृश्य में सुन्दर ललित पदावली में प्रभावोत्पादक शब्दचित्रण किया गया है—

"विच्छअन्तो णअररमणीमण्डलस्माणणाइम्
विच्छोलन्तो गअणकुहरं कन्तिजोण्हाजलेण।
पेच्छन्तीणं हिअआर्णहिअं गिद्दलन्तो च दप्पम्
दोलालीलासरलतरलो दीसए से मुहेन्दू॥"

प्रत्येक रमणी के मुखारविन्द को फीका करता हुआ, अपने रूपलावण्य की द्रवीभूत चान्द्रिका से गगन-मण्डल को तरङ्गित करता हुआ, अन्य युवतियों के अभिमान को दलित करता हुआ, चन्द्रमा के समान उस का मुख-मण्डल दिखाई देता है जब कि वह झूलती हुई सीधे आगे पीछे झोंके लेती है। उक्त छन्द के प्रभावोत्पादक अनुप्रास और श्लेष को एक और पद्य में मात किया गया है जहाँ पदध्वनि से पदार्थ की प्रतीति हो जाती है—

रणन्तमणिणेउरं झणझणन्तहारच्छडम्
कणक्कणिअकिंकिणीमुहलमहलाडम्बरम् ।
विलोलमलआवलोजणिअमञ्जुसिञ्जारवे
ण कस्स मणोमोहणं ससिमुहीअ हिंदोलणे ॥"

नुपुरों को झनकारती हुई, मणिमय माला के प्रकाश को छिटकाती हुई, किंकिणियों से निनादित होती हुई, कटिमेखला को प्रदर्शित करती हुई, परिभ्रमणशील कँगनों की कल कूजित करती हुई, हिंडोले में झूलती हुई यह चन्द्रवदनी किस के मन को नहीं मोह लेती।

राजशेखर की रचना पर कालिदास, हर्ष, भवभूति आदि पूर्वकालीन कवियों का जो प्रचुर प्रभाव पड़ा है वह प्रत्यक्ष ही है।

भाण-नाटक और चतुर्भाणी

लोकप्रिय और शास्त्रीय उपपत्ति के अनुसार यद्यपि भाणों के प्राचीन होने में सन्देह नहीं है तथापि इस प्रकार की रचना के जो कुछ नूमने उपलब्ध हैं तुलनात्मक दृष्टि से वे सब अर्वाचीन ही हैं। अतएव शिवपुरी से श्री रामकृष्ण कवि और एस. के. रामनाथ शास्त्री ने जिन चार भाणों—चतुर्भाणी को ढूँढ़ कर प्रकाशित किया है (सन् १९२२), वे विशेष महत्त्व की वस्तु हैं। निःसन्देह वे अन्य उपलब्ध भाणों की अपेक्षा बहुत पुराने हैं। चतुर्भाणी के चार निबन्धों के नाम 'उभयाभिसारिका', 'पद्मप्राभृतक', 'धूर्तविटसम्वाद' और 'पादताडितक' हैं और इन के कर्त्ता क्रम से वररुचि, शूद्रक, ईश्वरदत्त और श्यामिलक बताए जाते हैं। प्रोफैसर कीथ ने पहिले दो के कर्तृत्व के विषय में शङ्का उठाई है और कोई विशेष उपपत्ति न दे कर लिखा है कि सम्भवतः इन में से कोई भी सन् ईस्वी के १००० वर्ष से पूर्व का नहीं है। इस के विपरीत, डाक्टर टामस (Dr. Thomas) का विचार है कि अभिनवगुप्त के उल्लेख के आधार पर जो निचली काल-सीमा नियत हुई है श्यामिलक का समय उस से भी पूर्व का है—वह कन्नौज के हर्ष अथवा उस से भी पूर्ववर्ती गुप्तवंश का समकालीन था। इस बात के परिपोषक पादताडितक के अन्तर्गत कुछ उदन्तविशेष और बाण के साथ अभिधान और शैली सम्बन्धी सादृश्य हैं।

चतुर्भाणी को छोड़ कर जितने भी भाण इस समय उपलब्ध हैं उन में से कोई भी तेरहवीं शताब्दी से पूर्व का

प्रतीत नहीं होता। और उन पर विचार करने से जान पड़ता है कि भाण-रचना का सब से अधिक समृद्धिशाली समय सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के बीच का था। यह एक विचित्र बात है कि अधिकांश भाण दक्षिणी भारत में ही लिखे गए हैं जहाँ कि इस प्रकार की रचना में विशेष उत्कृष्टता प्राप्त की गई। इन रचनाओं में बहुविधता का अभाव और स्वरूप-सादृश्य इतना अधिक है कि किसी एक के विश्लेषण से ही अन्य सब का सहज अनुमान कर सकते हैं।

भाण के विकास-क्रम में कोई विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। भरतमुनि से ले कर विश्वनाथ तक वही एक रङ्ग है। किसी ने कहीं कुछ परिवर्तन किया भी तो उस का वास्तविक महत्त्व ही कुछ नहीं। अस्तु, जो कुछ है उस से हमारी भाणविषयक समस्या पर कुछ प्रकाश पड़ता अवश्य है।

भरतमुनि की परिभाषा के अनुसार भाण का अभिनय केवल एक पुरुष से होता है और उस के दो भेद हैं—

(१) आत्मानुभूतशंसी, जिस में आपबीती का वर्णन हो, और (२) परसंश्रयवर्णना-विशेष, जिस में परबीती कही जाय। अभिनेता अपने उत्तरोत्तर ग्रथित प्रतिवचनों के द्वारा, आकाश-भाषित और अपने अङ्गों की चेष्टाओं से, दूसरे की बात का अभिनय करे। अङ्क केवल एक हो, धूर्त विट उस का प्रयोजक हो, और उस में अनेक अवस्थाएं और चेष्टाएं प्रदर्शित की जांय। अन्यत्र इसी सम्बन्ध में भरत ने लिखा है कि भाण में लास्य नृत्य विशेष प्रकार से उपयोगी है। उस में केवल दो

सन्धियां होनी चाहिएं—मुखसन्धि और निर्वहणसन्धि और उस में कौशिकी वृत्ति नहीं होनी चाहिए। लास्य नृत्य की जो आवश्यकता दिखलाई गई है उस से यह अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः जनसाधारण के द्वारा ही भाण की उत्पत्ति हुई है और आदिम मूक नाट्याभिनय का वह विकसित रूप है। विट के साहचर्य से उस का हास्य और शृङ्गार-प्रधान होना सूचित होता है। किन्तु यह बात ध्यान देने की है कि भरत ने कौशिकी वृत्ति का, जो शृङ्गार रस की पोषक है, स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है, और इस प्रकार के नाटक में कौन सा रस प्रधान होना चाहिए इस का भी उन्हों ने कहीं उल्लेख नहीं किया और न विषय अथवा कथा-वस्तु के विषय में ही स्पष्ट शब्दों में कुछ लिखा है।

धनञ्जय (दशवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में) ने अपने दशरूपक में इन बातों को स्पष्ट किया है। उस के अनुसार भाण में भारती वृत्ति को काम में लाना चाहिए और वीर और शृङ्गार रसों का उस में प्राधान्य होना चाहिए। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि सभी भाणों में शृङ्गार की ही भरमार है; वीररस की सर्वत्र उपेक्षा की गई है। अभिनवगुप्ताचार्य ने भरत के नाट्यशास्त्र पर टीका करते हुए लिखा है कि विट का चरित्र हास्योचित होना चाहिए। भाण और प्रहसन में बहुत कुछ साधर्म्य है, और उत्सृष्टाङ्क, प्रहसन और भाण में क्रम से करुण, हास्य और विस्मय प्रधान होने चाहिए—शृङ्गार का ज़िक्र ही नहीं। धनञ्जय ने जो भारती वृत्ति पर ज़ोर दिया है,

उस से मालूम होता है कि उस के समय में अथवा उस से पूर्व भाण हास्यप्रधान होते थे क्योंकि प्रहसन भारती वृत्ति का प्रधान अङ्ग है।

विश्वनाथ ने धनञ्जय की *"भूयसा भारती वृत्तिः"* का अर्थ किया है—*"प्रायेण भारती, कापि कौशिक्यपि वृत्तिर्भवति"* अर्थात् अकसर भारती वृत्ति का प्रयोग होता है किन्तु कहीं कहीं कौशिकी वृत्ति भी काम में लाई जाती है। इस प्रकार वे भरत के विधान के विरुद्ध चले हैं। यह परिवर्तन ध्यान देने योग्य है क्योंकि श्रृङ्गार रस की अनुरूप यह ललित शैली संगीत, नृत्य और सुन्दर वेश भूषा का प्रयोग करती है। यहाँ स्त्री और पुरुष दोनों ही भाग ले सकते हैं। प्रणय, दाक्षिण्य, हावाभिनय, परिहास आदि की खुली इजाज़त है। विश्वनाथ के समय में भाण श्रृङ्गारप्रधान हो चले थे। यही कारण है कि उन्हों ने कौशिकी वृत्ति को ग्रहण किया है।

उत्तरकालीन भाणों में से कुछ के नाम ये हैं—श्रृङ्गार-भूषण, मुकुन्दानन्द, वसन्ततिलक, श्रृङ्गारतिलक, श्रृङ्गारसर्वस्व और कर्पूरचरित।

कर्पूरचरित और मुकुन्दानन्द को छोड़ कर जो दक्षिण भारत में नहीं बने हैं और जो कुछ पहिले के हैं, अन्य सब एक ही साँचे में ढले हुए हैं। विट का नाम या तो विलासशेखर होगा या अनङ्गशेखर, भुजङ्गशेखर, श्रृङ्गार-शेखर इत्यादि। एक बड़ी विलक्षण बात यह है कि आरम्भ में सूत्रधार और पारिपार्श्वक अथवा नटी दो पात्र रङ्गमञ्च पर

आते हैं और उन का परस्पर सम्वाद होता है—होना तो यह चाहिए था कि एक ही पात्र रंगमञ्च पर आता। प्रस्तावना के अन्त में विरहावस्था में विट का प्रवेश होता है। वह उषा-काल का शृङ्गारमय वर्णन करता है। फिर अपने सवेरे आने का कारण बतलाता है। संयोगवश उस की प्रेमिका का—जो कोई गणिका अथवा कामचारिणी विवाहिता स्त्री होती है—उस से विछोह हुआ है, किन्तु कभी कभी उस के आने का प्रयोजन किसी मित्र से मिलने अथवा मित्र की स्त्री की चौकसी करने की प्रतिज्ञा को पूरा करना होता है। वह वेश-वाट का चक्कर लगाता है और उस के मित्र जो उधर को आते हैं उन से काल्पनिक आलाप करता है—आकाशभाषित से उन को सम्बोधन करता है और फिर उन के कल्पित प्रत्युत्तरों को दुहराता है। इस प्रकार वह अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं और मनोविनोदों का वर्णन करना है, किसी वेश्या अथवा उस के प्रेमी के विवाद का निर्णय करता है, संगीतशाला में जा कर नर्तकियों से परिहास करता है और वीणाराग को सुनता है। अन्त में वह अपने प्रयोजन को पूरा करता है और संध्या और चन्द्रोदय के वर्णन से अपने अभिनय का उपसंहार करता है। अभिनय का स्थान काञ्ची जैसा कोई दक्षिणी नगर या कोलाहलपुर जैसा कोई कल्पित नगर होता है और किसी त्यौहार के अवसर पर अभिनय किया जाता है।

अधिक्षेपात्मक प्रहास का भी कहीं कहीं सन्निवेश हुआ है जिस में कामचारी पौराणिक, वञ्चनाशील ज्योतिषी, वृद्ध

श्रोत्रिय, आदि की खिल्ली उड़ाई गई है किन्तु साधारणतया शृङ्गार का ही प्राधान्य है। चरित्रों में भिन्नता और व्यक्तिगतता का अभाव है—जहाँ देखिए वही वारयोषित्, वही वेषवाट पर चक्कर लगाने वाला पुराना कामचारी, वही अवस्थाविशेष, वही भावों को व्यक्त करने की सरणि, वही विषय, वही क्लिष्ट वर्णन। शृङ्गार रस की तो इतनी मिट्टी पलीत की है कि पढ़ते पढ़ते जी उकता जाता है—कुतूहल पैदा करने की और कोई सामग्री रखी ही नहीं गई। ग्रामीणता और अश्लीलता में कोई बात छोड़ी ही नहीं गई। इन्हीं सब कारणों से लोकप्रिय होने पर भी भाण-नाटक चिर से विस्मृति के गर्भ में अन्तर्हित हो गया।

किन्तु कर्पूरचरित में कुछ विशेषताएं पाई जाती हैं जो उस को दक्षिण भारत के उत्तरकालीन भाणों से अलग करती हैं। प्रस्तावना में अकेला सूत्रधार ही आता है और उस में आकाश-भाषित का प्रयोग किया गया है। प्राकृत का वार्तालाप में स्वच्छन्द सन्निवेश किया गया है। कथावस्तु में भी कुछ भिन्नता है। विट वेशवाट में नहीं फिरता किन्तु सीधे रंगमञ्च पर आ कर किसी कल्पित मित्र से अपने साहस कर्मों को कहता है। इस में सन्देह नहीं कि यहाँ द्यूत, पान और प्रेम ही मुख्य विषय हैं किन्तु उस को रोचक बनाने के लिए प्रहसन को यथेष्ट स्थान दिया गया है। इन बातों से मालूम होगा कि कर्पूरचरित का चतुर्भाणी ही से अधिक सादृश्य है।

चतुर्भाणी में कहीं अधिक भिन्नता और सादगी, भूरि सामाजिक अधिक्षेप और प्रहसन, प्रत्यादर्शों की अपेक्षा व्यक्तियों

के चित्रण की महती प्रत्यायिनी शक्ति, अधिक सरल और संलापोचित शैली, और कुछ वास्तविक कविता भी है। यद्यपि आम तौर से रचनाविन्यास और स्वरूप में कोई विशेष भेद नहीं है तथापि शैली, विवेचन और सामान्य अवस्थिति की दृष्टि से उन को अन्य भाणों से अलग श्रेणी में ही रखना चाहिए।

सब से पहिली बात यह है कि चतुर्भाणी की स्थापना संक्षिप्त है और उस में केवल एक ही पात्र—अकेला सूत्रधार ही प्रवेश करता है, यद्यपि कर्पूरचरित की भाँति उन में आकाशभाषित का प्रयोग नहीं किया गया है। पादताडितक को छोड़ कर और किसी में भी लेखक का नाम और अभिनय का अवसर नहीं दिया गया है। उभयाभिसारिका की स्थापना में केवल पाँच पद्य हैं जो कामदेव और ऋतुराज वसन्त के सम्बन्ध में हैं। पद्मप्राभृतक में मंगलाचरण है ही नहीं, किन्तु सूत्रधार प्रवेश करता है और श्रोताओं के मनोविनोद के लिए वर्षा ऋतु के सम्बन्ध में एक गीत गाता है। धूर्तविटसम्वाद में सूत्रधार सुशीला कुलबधुओं के सन्मान और प्रशंसा में एक पद्य पढ़ कर निर्विण्णहृदय विट के आगमन की घोषणा करता है और रंगमञ्च को उस के लिए छोड़ कर वहाँ से चला जाता है। केवल अन्तिम भाण की प्रस्तावना ही ऐसी है जिस में भाण और ग्रन्थकार दोनों के नाम मिलते हैं—प्रस्तावना यहाँ भी विस्तृत नहीं है; केवल सात पद्य और दो छोटे छोटे गद्यांश उस में हैं।

धूर्तविटसम्वाद को छोड़ कर अन्यत्र विट वस्तुतः चरित्रनायक नहीं है किन्तु चरित्रनायक का मित्र और दूत है। पद्म-

प्राभृतक में उस का नाम शश है किन्तु प्रायः विट शब्द ही से वह सम्बोधित किया जाता है। उक्त भाणों में परम्परा-सम्मत उषा-काल का वर्णन नहीं है। किन्तु पद्मप्राभृतक में एक दो पद्यों में वसन्तारम्भ का, धूर्त-विटसम्वाद में वर्षा ऋतु का और उभयाभिसारिका में प्रौढ वसन्त समय का वर्णन है। और पादताडितक में तो प्रस्तावना है ही नहीं—आरम्भ में ही विट आ कर अपनी कहानी शुरू कर देता है। कथावस्तु में परम्परागत प्रियामिलन नहीं किन्तु वर्णना-भिन्नता की अच्छी प्रचुरता है। पद्मप्राभृतक में कर्णीपुत्र मूलदेव अपनी प्रिया देवदत्ता गणिका की बहिन देवसेना के प्रेम में आसक्त हो कर उस की मानसिक अवस्था का पता लगाने के लिए विट को भेजता है। विट उज्जयिनी की गलियों में फिरता है, तरह तरह के विलासशील लोगों से बातचीत करता है, उन के कृत्यों से सहानुभूति दिखाता है, जिस काम के लिए भेजा गया था उस को सफलता के साथ पूरा करता है और अन्त में देवसेना से स्मारक को तौर पर एक कमल (पद्म) का पुष्प ले कर वापिस होता है—इसी से इस भाण का नाम पद्म-प्राभृक पड़ा है।

धूर्तविटसम्वाद में चतुर और अनुभवी विट, वर्षा ऋतु को दुर्मनायमान करने वाली जान कर, किसी मनोविनोद से दिन बिताने के लिए बाहर निकलता है। जुआ खेलना और शराब पीना उस के साधन के बाहर हैं—निर्धनता के कारण केवल एक वस्त्र शरीर पर रह गया है—इस लिए वह वेश-वीथिका की ओर जाता है। रास्ते में उस को कई प्रकार के लोग मिलते हैं। आखिर धूर्त दम्पती विश्वालक और सुनन्दा के

घर में पहुँचता है जहाँ वह विश्वालक की कामशास्त्र-सम्बन्धी कुछ जटिल समस्याओं पर शास्त्रार्थ करने में दिन बिताता है। इसी से इस भाण का नाम धूर्त-विट-सम्वाद रखा गया है।

उभयाभिसारिका में विट अपने मित्र कुवेरदत्त से उस की रूठी हुई प्रेमिका नारायणदत्ता को मनाने के लिए भेजा जाता है। किन्तु जब वह मार्ग की कई घटनाओं के उपरान्त उस के घर में पहुँचता है तो क्या देखता है कि वर्षा ऋतु ने पहिले ही अपना जादू फेर दिया है—प्रेमी और प्रेमिका स्वयं ही एक दूसरे की ढूँढ़ में निकल कर पहिले ही मिल गए हैं !

पादताडितक का विषय अधिक रोचक और अपूर्व है। विट अन्य विटों की सभा में जाता है, जो प्रायश्चित्त की एक समस्या पर विचार करने के लिए एकत्रित हुए हैं। राजकर्मचारी तौण्डिकि विष्णुनाग ने खेल में अपने शिर जैसे पवित्र अंग पर एक मत्त वारनारी को पादाघात करने दिया है। इस से उस की जो अवमानता हुई है उस के परिक्षालन के लिए विटों की सभा में प्रस्ताव किया गया है।

यहाँ पर यह कह देना उचित है कि इन सब भाणों में रंगस्थली उत्तरी भारत में ही रखी गई है—उज्जयिनी, कुसुमपुर जैसे विश्रुत राजनगर उस के लिए चुने गए हैं। केवल एक में ग्रन्थकार ने सम्भवतः नगर के वास्तविक नाम को गुप्त रखना चाहा जिस के परिवादों का वर्णन उस को सार्व-भौम-नगर कह कर किया गया है। बात वही है—विट का

वेश-वाट में फिरना और आकाशभाषित के द्वारा संलाप करना। किन्तु चरित्र प्रत्यादर्शमात्र नहीं हैं। वर्णना को रोचक बनाने के लिए उन में यथेष्ट भिन्नता और नवीनता का सञ्चार किया गया है और विषय शृंगार होने पर भी अधिक्षेप और परिहास के संमिश्रण से उस को खूब चमत्कृत किया गया है। मनोराज्य, पण्डितं-मन्यता, पाखंड, अनाचार, उच्छृंखलता आदि का अच्छा हास्योचित चित्रण किया गया है।

आश्चर्य्यावह भिन्नता से युक्त जितने चरित्र पादताडितक में आए हैं उतने शायद ही और किसी संस्कृत नाटक में मिलेंगे। इस भाण की प्रवृत्ति विशेषतया अधिक्षेप-गर्भ प्रहसन की ओर है—प्रवञ्चना और छलछद्म से ग्रन्थकार को स्वयं घृणा है। असाध्य कामचारी लम्पटों, गर्हित धूर्तों, फैशन के दास चलितवृत्त निरुद्यमी मनुष्यों, हृदयहीन वेश्याओं के प्रहसनात्मक चित्रण में लेखक ने वाग्वैदग्ध्य और पर्यवेक्षण शक्ति का अच्छा हृदयंगम परिचय दिया है। उस की असूयात्मक वाणी ने विदेशियों को अधिक्षिप्त करने में कोई कसर नहीं रखी। 'सार्वभौमनगर' नाम जैसा कि डाक्टर टामस ने सूचित किया है व्यञ्जनात्मक है। उस से संसार के किसी ऐसे नगर का भान होता है जहाँ सभी देशों और जातियों के चलितवृत्त नराधम इकट्ठे हो सकें।

यह बात निःसन्देह साभिप्राय है कि जिन जातीय प्रत्यादर्शों और व्यक्तियों का चतुर्भाणी में वर्णन अथवा प्रहास किया गया है वे भाण के उत्तरवर्ती लेखकों को अविदित हैं। दीवार पर वसन्त के विषय में एक पद्य लिखे हुए आकाश-पर्यवेक्षी कवि सारस्वतभद्र, पण्डितंमन्य पाणिनीय दत्तकलशी

जो लम्बे लम्बे क्लिष्ट सामासिक शब्दों के आटोप में अपना गौरव समझता है और कातन्त्रिकों से विरोध करने के लिए हमेशा तत्पर रहता है। दुरात्मा शाक्यभिक्षु सन्धिलक, जीर्ण नाटक-विट मृदंग-वासुलक जो 'भाव जरद्रव' कह कर पुकारा जाता है, विवेकभ्रष्ट युवक विट श्रेष्ठिपुत्र कृष्णिलक जिस को विवाह से स्वाभाविक अरुचि है, धूर्त दम्पती विश्वालक और सुनन्दा, चलितवृत्त छद्मवेशिनी बौद्ध परिव्राजिका विलास-कौण्डिनी जो पद पद पर धर्मशास्त्र को उद्धृत किया करती है, इत्यादि ऐसे चरित्र उत्तरवर्ती लेखकों में नहीं पाए जाते। इस से भी अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि ये चरित्र प्रत्या-दर्शमात्र नहीं किन्तु व्यक्तिविशेष हैं। शाक्यभिक्षु और भिक्षुणी, जो 'भगवदज्जुक' और 'मत्तविलास' में भी आते हैं, उत्तरका-लीन प्रहसन और भाणों में नहीं मिलते। उन का स्थान असंगत श्रोत्रियों, दुर्वृत्त पौराणिकों, शैव और वष्णवों ने ले लिया है। जिस द्वेषभाव से बौद्धों पर आक्षेप किए गए हैं उस से यह सूचित होता है कि चतुर्भाणी के समय इस प्रकार का धार्मिक द्वेष बना हुआ था और उत्तरकालीन धार्मिक सम्प्रदाय तब तक इतने नहीं उठे थे कि वे प्रहसनात्मक अधिक्षेप के लक्ष्य बनाए जा सकें।

धूर्तविटसम्वाद और पादताडितक जैसी रचनाओं को, जो छायासंमित जीवनों और दुश्चेष्टाओं, ऐसी श्रेणी के लोगों के परिवादों और प्रलापों के वर्णन में, जो संसार के प्रत्येक राजनगर में पाए जाते हैं, अप्रतिम हैं, उत्तरकालीन भाणों में पाना कठिन है। पादताडितक के नायक विष्णुनाग के लिए,

जिस के महत्त्व पर मदनसेनिका के अपमानजनक आचरण से आघात पहुँचा है, जो प्रायश्चितप्रकार प्रस्तुत किए गए हैं वे निःसन्देह हृदयंगम हैं और सभ्यजनोचित अवहास की स्वाभाविक शक्ति को सूचित करते हैं। कोई सोचते हैं कि विष्णुनाग को नहीं किन्तु मदनसेना को प्रायश्चित करना चाहिए जिस ने ऐसे पशु का पादताडन किया है। दूसरों की राय है कि विष्णुनाग को उस के अपमानित चरण का अपने हाथ से संवाहन करना चाहिए। एक यह प्रस्ताव है कि उस को गणिका के चरणों की धोवन से अपना शिर नहलाना चाहिए और उस को पीना भी चाहिए। रुद्रवर्मा कवि का विधान है कि उस का अपमानित शिर मुँडवा दिया जाना चाहिए। किन्तु सभापति के स्थान पर बैठे हुए विट के प्रस्ताव पर सर्वसम्मति से यह स्वीकृत होता है कि अपने प्रेमी के मस्तिष्क में अधिक चतुराई भरने के लिए मणि को विष्णुनाग के सामने सभापति के शिर पर अपना पैर रखना चाहिए! धूर्तविटसम्वाद में विट के जीवन के आचार और रसिकता सम्बन्धी नियमों का अच्छा उपसंहार किया गया है। कुछ मनोरञ्जक बातों पर उस में विचार किया गया है—"यदि केवल धन ही वेश्याओं के हृदयों को आकर्षित करता है तो उन की उत्तमा, मध्यमा और अधमा श्रेणियां क्यों मानी गई हैं?" "वेश्या में प्रेम के क्या लक्षण हैं?" "प्रथम समागम हमेशा रुचिकर क्यों नहीं होता?" "मानिनी स्त्री को किस तरह मनाना चाहिए?" इत्यादि। इस प्रकार के विषयों पर खूब वाग्विला-

सिता प्रदर्शित की गई है। अन्त में विट अपने जीवन के सुखों के सामने शास्त्रकार के स्वर्ग की तुच्छता प्रकट करने के लिए वाग्मितापूर्ण भाषण करता है। किन्तु कामचारिता के होते हुए भी विट आत्मसन्मान से विल्कुल ही शून्य नहीं है—लम्पटों में भी सन्मान का भाव होता ही है—और उस की दृष्टि में कृतघ्नता से बढ़ कर और कोई पाप नहीं। वह स्वयं अपने मित्रों की सेवा करने के लिए सदैव तत्पर रहता है।

सचमुच विट इतना गिरा हुआ चरित्र और इतना कायर और कुत्सित कामुक नहीं है जितना कि उस को उत्तरकालीन भाणों में चित्रित किया गया है। वह लम्पट और मर्मस्पर्शी है सही किन्तु वाग्वैदग्ध्य, श्लक्ष्णता और संस्कृति का उस में एक दम अभाव नहीं है—वैशिकी कला का वह पूर्ण पण्डित है और उस का वेश्या-जगत् का अनुभव बहुत विस्तृत है। विट को नाटकों में स्थान नहीं दिया गया है, केवल चारुदत्त और बहुत विकसित रूप में मृच्छकटिक में हम उस को हम देखते हैं भाण में उस के स्वरूप का पूर्ण विकास हुआ है।

चतुर्भाणी को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि उस का समय धनञ्जय से बहुत पहिले का है। भरत के नाट्यशास्त्र में भाण-लेखकों को रस और कथावस्तुसम्बन्धी जो स्वतन्त्रता है वह धनञ्जय के समय में कम हो चली थी—उन के लिए धनञ्जय ने एक सीमा नियत कर दी थी। सिवाय वीर और शृंगार के और किसी रस को भाण में प्राधान्य नहीं दिया जा सकता था। इस बन्धन का जो फल हुआ, वह उत्तरकालीन भाणों से प्रत्यक्ष ही है। भाण जैसे सन्दर्भ में वीर रस को लाना

निरी विडम्बना ही होती अतएव उस को स्वभावतः छोड़ना पड़ा। अब केवल शृंगार रस ही भाणलेखक के भाण्डार में रह गया। इस पर भी विशेषता यह कि उस के चित्रण बिल्कुल कल्पित—लोक से सर्वथा असम्पृक्त—होने चाहिएं! ऐसी दशा में धूर्तविटसम्वाद और पादताडितक जैसे सजीव चरित्रों की कल्पना उत्तरकालीन भाणों में होती, यह कब सम्भव था।

उक्त कथन की पोषक एक दो बातें और भी हैं। धनञ्जय और उस के उत्तरकालीन आलङ्कारिकों ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि कथावस्तु बिल्कुल कल्पित होनी चाहिए—तत्कालीन समाज अथवा ऐतिहासिक घटनाओं से उस का कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। चतुर्भाणी के लेखकों का इस नियम से अपरिचित होना भी इस बात को पुष्ट करता है कि वे धनञ्जय के पूर्वकालीन थे। कोई नहीं कह सकता है कि धूर्तविटसम्वाद और पादताडितक में जिस समाज का चित्रण किया गया है वह एकदम कल्पित है और तत्कालीन आचारविचारों के आधार पर उक्त भाणों की रचना नहीं हुई है। इस के विपरीत उत्तरकालीन भाण बिल्कुल कल्पित और लौकिकता से असम्पृक्त हैं। श्यामिलक के पादताडितक की निचली कालसीमा अभिनवगुप्त, कुन्तल और क्षेमेन्द्र,—जो दसवीं शताब्दी के अन्त में विद्यमान थे,—के उल्लेख से पूर्णतया निश्चित हो जाती है और उपर्युक्त युक्तियों के बिल्कुल अनुकूल है। पद्मप्राभृतक और धूर्तविटसम्वाद की निचली कालसीमा हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में लिए गए अवतरणों और उस के उल्लेख से स्पष्ट ही है। केवल उभयाभिसारिका की निचली

कालसीमा निश्चित नहीं है । किन्तु रचना-सादृश्य के आधार पर इन सब भाणों की निचली कालसीमा एक ही मान लेने में कोई आपत्ति नहीं।

इस के अतिरिक्त, जैसा कि डाक्टर टामस (Dr. Thomas) ने पादताडितक के विषय में लिखा है, चतुर्भाणी के किसी भी सन्दर्भ में मुसलमानों का उल्लेख नहीं आया है। अभिधान और शैलीसम्बन्धी विशेषताएं भी चतुर्भाणी की प्राचीनता का निर्देश करती हैं।

पादताडितक के दो स्थलों को छोड़ कर चतुर्भाणी में में सर्वत्र संस्कृत का प्रयोग किया गया है । भाषा इतनी सरस, सुगठित, और व्यवहारिक है कि डाक्टर टामस ने ठीक ही उस को वास्तविक संस्कृत-वचनामृत कहा है।

———

संस्कृतनाटक का ह्रास

मुरारि और राजशेखर की रचनाओं में हम देख चुके हैं कि नाटकीय कला का किस तरह क्रमशः ह्रास हो रहा था। इन के पूर्वकालीन नाटककार वीरकाव्य से प्रभावान्वित थे। इस प्रभाव का फल यह हुआ कि उन्हें अपने नाटकों में जहाँ तहाँ वीरकविता और गीति को स्थान देना पड़ा जिस से वास्तविक कला का पूर्ण विकास न हो सका। वह समय भी कुछ ऐसा ही था कि यह विघातिनी प्रवृत्ति कम न हो कर उल्टा और ज़ोर पकड़ने लगी—दर्शक प्रायः ऐसे कृतविद्य लोग होते थे जो पद पद पर काव्य-सौन्दर्य को देखने और कविता के दोषों को ढूँढ़ निकालने के लिए उत्सुक रहते थे। नाटकीय कला का महत्त्व उन की दृष्टि में इतना नहीं था—सम्भवतः वे इस से एक प्रकार से अनभिज्ञ ही थे। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ से उत्तरी भारत पर मुसलमानों का आतङ्क छाने लगा। धीरे धीरे विधर्मी साम्राज्य और धार्मिक असहिष्णुता बढ़ने लगी। स्वभावतः भारतीय साहित्यिक कला को एक प्रबल आघात पहुँचा और वह चिर काल तक उस की मूर्छा से उठ न सकी। कालक्रम से अन्यान्य कारण भी आ कर उपस्थित हुए। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का सम्पर्क वास्तविक जीवन से बिल्कुल छूट गया; उन का स्थान प्रान्तिक उपभाषाओं ने ले लिया। भास और कालिदास का ज़माना गया। समय ने पलटा खाया और देववाणी संस्कृत धीरे धीरे लोकस्मृति से अन्तर्हित हो चली। स्वाभाविकता को भी

छुट्टी हुई. कृत्रिमता का समय आया। कठिनाई के ऊपर कठिनाई उपस्थित हुई। कवियों के प्रखर पाण्डित्य के सामने कला बेचारी न टिक सकी—शरमा कर पटान्तरित हो गई।

मृत भाषा में रचना कर के यश और धन की आशा करना व्यर्थ है। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी परम्परा का प्रभाव कम नहीं हुआ—संस्कृत के प्रति साहित्यसेवियों की आस्था ज्यों की त्यों बनी रही यद्यपि उन की रचनाएँ उत्तरोत्तर क्लिष्ट और कृत्रिम होती गईं। बोलचाल की भाषाओं में नाटक लिखने का किसी को साहस नहीं हुआ। बिहार में विद्यापति ठाकुर ने सब से प्रथम प्रान्तिक भाषा को नाटक में स्थान देने का प्रयास किया किन्तु यहाँ भी पात्रों की बोलचाल की भाषा संस्कृत अथवा प्राकृत ही है। केवल गीत मैथिली भाषा में लिखे गए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में जा कर यह प्रभाव कुछ कम हुआ और हिन्दी में नाटक-रचना होने लगी। उत्तरकालीन संस्कृत नाटकों में कृष्णमिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय सब से अधिक महत्त्व का है। दार्शनिक विषयों पर यह एक लाक्षणिक रूपक है जिस में संस्कृत भाषा का होना उपयुक्त ही है। यह वह समय है जब काव्यकला नाट्यशास्त्र के नियमों से पूर्ण रूप से शृङ्खलाबद्ध हो चुकी थी।

नाटक

उत्तरकालीन नाटक के दूषण हम देख ही चुके हैं। इस समय की नाटकीय रचनाओं में कर्मण्यता और चरित्रचित्रण की अपेक्षा वर्णना को अधिक प्राधान्य दिया गया। यह प्रवृत्ति

यहाँ तक बढ़ी कि केवल शैली-प्रदर्शन और अनुप्रास, श्लेष आदि ही में नाटकीयता समझी जाने लगी।

इस ह्रास का स्वरूप नैयायिक जयदेव (सन् १२०० ई०) के प्रसन्नराघव में बिल्कुल स्पष्ट है। वही पुरानी रामायणीय कथा है। प्रथम अङ्क में याज्ञवल्क्य का एक शिष्य आ कर एक समाचार सुनाता है जिस पर पर्दे के पीछे दो मधुमक्खियां वाद-विवाद कर रही थीं। सीता से पाणिग्रहण की इच्छा से बाणासुर रावण के साथ प्रतिस्पर्धा करने वाला है। इस के उपरान्त स्वयंवर के लिए आए हुए राजकुमारों का परिचय देने के लिए दो बन्दी आते हैं। एक नया प्रार्थयिता आ कर कर्कश वाणी से उन की अवमानता करता है, धनुष को घृणा की दृष्टि से देखता है और सीता को बलात्कार से ले जाना चाहता है। बन्दी उस को शान्त करना चाहते हैं किन्तु वह दश शिर वाले भीषण रावण के स्वरूप को प्रकट करता है। बाण आता है और धनुष उठाने के प्रयत्न में निष्फल हो कर रावण की अवमानना कर के वहाँ से चल देता है।

दूसरे अङ्क में हम एक असंगत हास्योत्पादक दृश्य देखते हैं। राम सीता और उस की सहेली को छिप कर देखते हैं। वे और सीता दोनों वासन्ती लता और आम के वृक्ष के समागम के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं और जब एक दूसरे के सन्मुख होते हैं, तो बड़े संकोच से पारस्परिक प्रेम को जतलाते हैं।

तीसरे अङ्क में विश्वामित्र, शतानन्द, जनक, दशरथ राम और लक्ष्मण का पारस्परिक प्रशंसा-वाद, राम का धनुष

को तोड़ना, परशुराम के दूत का आ कर इस कर्म की निन्दा करना इत्यादि हैं।

चौथे अङ्क में राम और परशुराम का संघर्ष है।

पाँचवें अङ्क में नाटकीय कला से भिन्न एक विचित्र ही बात दिखाई देती है। यमुना गङ्गा से इस बात पर विषाद प्रकट कर रही है कि बाली ने अपने भाई सुग्रीव को निकाल दिया है। सरयू भी वहाँ पहुँचती है और राम के वनवास की ख़बर सुनाती है। उस का हंस आ कर राम के सुवर्ण के मृग के पीछे भागने तक की कथा सुनाता है। चिन्तित हो कर नदियां समाचार लेने के लिए समुद्र के पास जाती हैं। वे देखती हैं कि गोदावरी समुद्र से बातचीत कर रही है—वह सीता का अपहरण, जटायु की मृत्यु और सीता के फेंके हुए आभूषणों को ऋष्यमुख पर पहुँचाये जाने का समाचार सुनाती है। तुङ्गभद्रा भी आ कर अपनी कहानी सुनाती है। राम ने बाली को मार कर सुग्रीव से मैत्री कर ली है। अकस्मात् समुद्र के ऊपर से एक महत् पिण्ड उड़ता हुआ दिखाई देता है। क्या वह हिमालय है अथवा विन्ध्य? सागर नदियों के साथ इस रहस्य को जानने के लिए निकलता है।

छटे अङ्क में राम शोकाकुल हो रहे हैं। सौभाग्यवश दो विद्याधर अपने जादू के द्वारा राम को लङ्का की सब घटनाएँ दिखाते हैं। सीता रंज में भरी हुई आती है जिस से राम उस के प्रति किसी तरह की शङ्का न करें। रावण उस से प्रेम की प्रार्थना करता है। वह उस को घृणा की दृष्टि से देखती है।

रावण उस को मारने के लिए तलवार के वास्ते हाथ बढ़ाता है किन्तु उस के हाथ में उस के पुत्र अक्ष का शिर पड़ता है, जिस को हनुमान् ने काटा था। यह हनुमान् ही था जो समुद्र को लांघ कर लंका में पहुँचा था। सीता निराश हो कर जलना चाहती है किन्तु अंगारे मोतियों के स्वरूप में बदल जाते हैं और हनुमान् राम के पत्नीव्रत के समाचार से उस का आश्वासन करता है।

सातवें अङ्क में प्रहस्त माल्यवान् के भेजे हुए चित्र को रावण को देता है, जिस में पुल और शत्रु के आक्रमण का प्रकार बतलाया गया है। वह उस को चित्रकार की निरी कल्पना-मात्र समझता है। मन्दोदरी आ कर उस को अपना अपशकुन सुनाती है किन्तु रावण उस पर उपहास कर देता है। आखिर जब उस को मालूम होता है कि अब तो नगर घिर ही गया है, वह कुम्भकर्ण और मेघनाद को मृत्यु के मुख में भेजता है और बाद को स्वयं भी मारा जाता है। एक विद्याधर और उस की स्त्री रावण की दशा का वर्णन करते हैं। फिर राम, सीता, लक्ष्मण, बिभीषण और सुग्रीव प्रवेश करते हैं और सब एक एक कर के सूर्य्यास्त और चन्द्रोदय का वर्णन करते हैं। वे विमान पर चढ़ते हैं और उत्तर की ओर आते हुए कुछ प्रदेशों का और अन्त में सूर्योदय का वर्णन करते हैं।

उत्तरकालीन नाटक-रचना का यह एक नमूना है। इसी तरह की और भी अनेक रचनाएँ हैं जिन में नाटकीय कला की दुर्गत और कवित्व शक्ति का दुरुपयोग किया गया है।

लाक्षणिक रूपक

कह नहीं सकते कि कृष्णमिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय किसी पुराने आदर्श के पुनरुत्थान का फलस्वरूप था या लेखक के मस्तिष्क की नवीन उपज। जो हो, कम से कम कृष्णमिश्र के समय का निर्णय निश्चयपूर्वक किया जा सकता है। प्रबोधचन्द्रोदय जेजाकभुक्ति के चन्देल राजा कीर्तिवर्मा के समक्ष जिस का १०९८ ई० का शिलालेख विद्यमान है, किसी गोपाल नामी भद्रपुरुष के लिए प्रणीत किया गया था। गोपाल ने कीर्तिवर्मा को चेदि के कर्ण से जो १०४२ में विद्यमान था—उस की पराजय होने के बाद राज्य में फिर से स्थापित किया था। उक्त रूपक में छः अङ्क हैं और उस में वैष्णव सम्प्रदाय के अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया है।

सच्चिदानन्द ब्रह्म ही केवल एकमात्र वास्तविक सत्ता है किन्तु माया के समागम से उस का जीवात्मा नाम का पुत्र उत्पन्न होता है। आत्मा के विवेक और मोह दो पुत्र पैदा होते हैं। मोह की सन्तान का प्राबल्य होने से विवेक की सन्तति की स्थिति को आघात पहुँचाता है। इन बातों को हम नाटक के आरम्भ में प्रेम और अभिलाषा के संवाद से जानते हैं। प्रेम को निश्चय है कि यह सब उसी की कृपा का फल है। एक-मात्र भय इस बात का है कि प्राक्तन भविष्यवाणी के अनुसार विवेक और उपनिषद् के समागम से प्रबोध और विद्या की उत्पत्ति होने वाली है, किन्तु दोनों को जुदा हुए इतना समय हो गया है कि उन का संयोग सम्भव नहीं जान पड़ता। राजा विवेक और

उस की एक स्त्री मति बात-चीत करते हुए उपस्थित होते हैं और उन के भय से प्रेम और अभिलाषा वहाँ से भाग निकलते हैं। विवेक को इस बात से अत्यन्त हर्ष होता है कि मति ने उस को उपनिषद् से संमिलन की अनुमति दे दी है।

दूसरे अङ्क में मोह को पराजित होने का भय लगता है और वह दम्भ के द्वारा संसार के द्वार बनारस नगर पर अधिकार करने के लिए भागता है। मिथ्यावाद का पितामह अहङ्कार भी वहाँ आता है और अपने रिश्तेदार को देख कर बड़ा प्रसन्न होता है। मोह विजय की धूमधाम से अपनी नई राजधानी में पहुँचता है। भौतिकवादी चारवाक उस का प्रधान मन्त्री है। अशुभ समाचार सुनाई देता है कि कर्तव्य विद्रोह करने के लिए खड़ा हो रहा है। उपनिषद् विवेक से परिणय का विचार कर रही है। मोह अपने परिचरों को श्रद्धा की पुत्री धार्मिकता को कैद करने की आज्ञा देता है और मिथ्यादृष्टि को यह हुक्म देता है कि वह श्रद्धा और उपनिषद् में फूट पैदा करे।

तीसरे अङ्क में दया के साथ धार्मिकता आती है। वह अपनी माता श्रद्धा के प्रणष्ट हो जाने से शोकाकुल हो रही है और आत्मघात करना चाहती है किन्तु दया उस को रोकती है। दिगम्बर जैन बौद्ध और सोम सम्प्रदाय में वह श्रद्धा को ढूँढ़ती है किन्तु उस का प्रयत्न निष्फल होता है। इन में प्रत्येक श्रद्धा नाम की एक पत्नी ले कर उपस्थित होता है किन्तु उस में वास्तविक श्रद्धा का कोई भी लक्षण नज़र नहीं आता। बौद्ध और जैन मत आपस में झगड़ते हैं। सोम सम्प्रदाय उन को मदिरा पिला कर श्रद्धा की पुत्री धार्मिकता को ढूँढ़ने के लिए ले जाता है।

चौथे अङ्क में श्रद्धा दुःखी हो कर आगामी भय का संसूचन करती है। वह और कर्तव्य बड़ी कठिनाई से विष्णु में विश्वास रखने के कारण एक राक्षसी के मुख से बचते हैं। वह विवेक का युद्ध का सन्देश ले कर आती है। विवेक धैर्य, परितोष आदि अपने सेनानायकों को ले कर बनारस में पहुँचता है।

पाँचवें अङ्क में युद्ध समाप्त हो जाता है। मोह और उस का सम्पूर्ण दल मृत्यु को प्राप्त हो गए हैं। किन्तु जीवात्मा उद्विग्न हो रहा है। मोह और कर्मण्यता की मृत्यु से शोकाकुल हो रहा है। वेदान्त आ कर उस को उस की भूल को समझाता है जिस से वह अकर्मण्यता पत्नी के साथ संन्यासी हो जाता है। अन्तिम अंक में विवेक और उपनिषद् का सम्मिलन होता है। विष्णुभक्ति इस पर अत्यन्त हर्ष प्रकट करती है।

उक्त रूपक से लेखक का असाधारण चातुर्य प्रदर्शित होता है किन्तु उस में नाटकीयता को ढूँढना व्यर्थ है। उस की विशेषता है, प्रभावोत्पादक और उदात्त पद्यों में दार्शनिक और शिष्टाचार सम्बन्धी भावों को प्रकट करना। यह तो हर एक को मानना पड़ेगा कि कृष्णमिश्र ने बड़े कौशल और योग्यता से ऐसे शुष्क विषय को सजीव और रोचक बनाया है।

चौदहवीं शताब्दी के वेंकटनाथ का संकल्पसूर्योदय, और कविकर्णपूर का चैतन्यचन्द्रोदय प्रबोधचन्द्रोदय के अनुकरणमात्र हैं जो प्रायः कृष्णमिश्र के कौशल से शून्य हैं। विद्यापरि-

णायन और जीवानन्दन शैव रूपकों में, जो सत्रहवीं शताब्दी के अन्त और अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखे गए हैं, कोई गुण नहीं है।

तेरहवीं शताब्दी का मोहराज-पराजय नाम का जैन रूपक विशेषतया उल्लेखनीय है। यहाँ भी कृष्ण-मिश्र की ही परिपाटी का अनुसरण किया गया है किन्तु उस में नवीनता और हृदयंगमता भरी गई हैं। इस का रचयिता यशःपाल चक्रवर्ती अभयदेव का राजकर्मचारी था, जिस ने कुमारपाल के बाद १२२६ ई० से १२३२ तक राज्य किया। थारापद्र में जिस समय कुमारविहार में महावीर की मूर्ति की स्थापना की गई थी, उसी समय उक्त रूपक का अभिनय हुआ था।

आरम्भ में जैन तीर्थंकर ऋषभ, पार्श्व और महावीर की स्तुति में तीन श्लोक दिए गए हैं। उस के बाद सूत्रधार और नटी का संवाद होता है जिस में विदूषक के साथ राजा कुमारपाल का प्रवेश करवाया जाता है। इस ऐतिहासिक नाम के साथ लाक्षणिक चरित्रों का संमिश्रण किया गया है जैसा कि आगे के नामों से विदित होगा। गुप्तचर ज्ञानदर्पण, जो राजा मोह का भेद लेने भेजा गया था, आ कर यह समाचार देता है कि मोहराज ने मनुष्य के मानसनगर को सफलतापूर्वक घेर लिया है। उस का राजा विवेकचन्द्र अपनी सहधर्मिणी शान्ति और कन्या कृपासुन्दरी के साथ वहाँ से भाग निकला है। गुप्तचर शिष्टाचार और सुनीति की कन्या कीर्तिमञ्जरी से—जो कुमारपाल की स्त्री है—मिलने की ख़बर भी सुनाता है। वह इस बात पर विषाद

प्रकट करती है कि कुमारपाल ने एक जैन साधु के कहने में आ कर स्वयं उस को और उस के भाई प्रताप को छोड़ दिया है। इस लिए उस ने मोहराज से सहायता के लिए अभ्यर्थना की है जो कुमारपाल पर आक्रमण करने की तय्यारी कर रहा है।

दूसरे अंक में हम राजमन्त्री पुण्यकेतु के मुख से सुनते हैं कि हेमचन्द्र के तपोवन में राजा कुमारपाल की विवेकचन्द्र से भेंट हुई है और उस ने कृपासुन्दरी को प्रणय की दृष्टि से देखा है। राजा और उस का विदूषक छिप छिप कर कृपासुन्दरी और उस की सहेली सौम्यता को देखते हैं। आखिर राजा की उन ने बातचीत होती है। इतने में महारानी राज्यश्री अपनी सखी रौद्रता को ले कर वहाँ पहुँचती है और राजा से रुष्ट हो कर मान कर बैठती है।

तीसरे अंक में पुण्यकेतु ऐसी नीति चलता है जिस से स्वयं रानी को कृपासुन्दरी के लिए याचना करनी पड़ती है। विवेकचन्द्र उस की अभ्यर्थना को इस शर्त पर स्वीकार करता है कि जो सात पाप हैं वह विनष्ट होने चाहिएं और जो लोग विना सन्तान के मरते हैं उन की जायदाद राजा को नहीं लेनी चाहिए।

चौथे अंक में द्यूत, मद्यमांस, हिंसा, चोरी, जारी, इन सब को निर्वासन दिया जाता है और अन्तिम अंक में मोहराज की पराजय और विवेकचन्द्र की फिर से राज्यप्राप्ति का वर्णन है।

उक्त रूपक निःसन्देह गुणों से खाली नहीं हैं। उस की भाषा सरल है। क्लिष्ट कल्पना और विकट बन्ध से वह मुक्त है। जैन मत के प्रचारकार्य का हृदयंगम चित्रण किया गया है। यही नहीं, गुजरात के इतिहास पर भी उस से कुछ प्रकाश पड़ता है। उस समय के समाज का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है।

नाटिका और सट्टक

नाटिका का अन्य रूपकों से सिर्फ़ यही भेद होता है कि उस में चार अंक होते हैं; सट्टक में केवल प्राकृत का प्रयोग किया जाता है। विल्हण की कर्णसुन्दरी का समय १०८० और १०६० ई० के अन्तर्गत है। इस में एक चालुक्य राजा और विद्याधरराजपुत्री कर्णसुन्दरी की प्रेम कहानी है। इसी तरह कुछ और भी नाटिका और सट्टक उपलब्ध हैं जिन में उत्तरोत्तर नाटकीय कला का ह्रास ही दृष्टिगोचर होता है।

प्रकरण

उत्तरकालीन प्रकरण मौलिकता और कला में इतने गिरे हुए हैं कि उन का विशेष उल्लेख न कर, केवल एक दो के नाम मात्र यहाँ पर दिए जाते हैं।

मल्लिकामारुत—मालतीमाधव का बुरी तरह से अनुकरणमात्र है। इस का रचयिता १७वीं शताब्दी का एक कोई उद्दण्डी अथवा उद्दण्डनाथ है।

कौमुदीमित्रानन्द—दश अंकों का एक जैन प्रकरण। समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध, रचयिता विश्रुत हेमचन्द्र का शिष्य रामचन्द्र। इस में नाटकीयता तो पास तक फटकने भी नहीं पाई। विस्मयावह और अमानुषिक कथाओं का संग्रह मात्र है।

अन्यान्य प्रकरण उक्त नमूनों से किसी प्रकार बढ़ कर नहीं हैं। साहित्यिक दृष्टि से उन का कोई मूल्य नहीं। यही बात उपलब्ध छायानाटकों और उपनाटकों के सम्बन्ध में भी कही

जा सकती है। किसी में कहीं कवि ने कवित्व-शक्ति का प्रदर्शन किया भी तो इतने ही से नाटककारों में उस की गणना नहीं हो जाती। अप्रासंगिक वर्णना का मूल्य ही कितना? कृत्रिमता और बाह्य सजावट में स्वारस्य कहाँ?

अनियमित प्रकार के नाटक

प्रोफैसर लूडर्स ने महानाटक को छायानाटकों की श्रेणी में सम्मिलित किया है। इस वर्गीकरण के लिए उन्हों ने निम्नलिखित कारण दिए हैं। महानाटक की रचना प्रधानता से पद्य में ही हुई है। उस में गद्य बहुत कम है। ये पद्य बहुधा वर्णना-प्रकार के हैं, नाटकीय ढँग के नहीं। प्राकृत का कहीं पर भी प्रयोग नहीं किया गया है। पात्रों की संख्या बहुत बड़ी है और उस में; विदूषक नहीं है। ये सभी बातें दूतांगद में भी पाई जाती हैं जो छायानाटक है। किन्तु प्रोफैसर कीथ के मत में यह युक्तियां अपर्याप्त हैं—लूडर्स ने ऐसा कोई प्रमाण नही दिया है जिस से यह सिद्ध होता हो कि महा-नाटक का वर्गीकरण और तरह पर नहीं हो सकता।

इस नाटक के दो उद्धरण हैं। एक मधुसूदन से उल्लिखित जिस में दश अंक हैं और दूसरा दामोदरमिश्र से जिस में चौदह अंक हैं। वही रामायणीय कथा है। भवभूति, मुरारि और राजशेखर के नाटकों का लज्जास्पद अपहार और कला का विकृत स्वरूप लेखक की अक्षमता और अव्युत्पन्नता को प्रकट करते हैं। वीरकाव्य के प्रभाव से महानाटक इतना भाराक्रान्त है कि उस में नाटकीय कला बिल्कुल छिप गई है।

रचनाविन्यास की दृष्टि से जयदेव के गीतगोविन्द से उस का बहुत कुछ सादृश्य है।

गुजरात के रामकृष्ण की गोपालकेलिचन्द्रिका इसी ढँग की रचना है। इस की प्रस्तावना से स्पष्ट है कि यह नाटक महानाटक के बाद लिखा गया है। इन दोनों को दृश्यकाव्य की अपेक्षा श्रव्यकाव्य कहना ही अधिक उपयुक्त है।

संस्कृत काव्य

वीरकाव्य

महाभारत

वृद्धि और विकास

साहित्य के इतिहास में महाभारत जैसा बृहत्काय वीरकाव्य अभी तक कहीं देखने में नहीं आया है। अपने वर्तमान स्वरूप में वह किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं, किन्तु युगयुगान्तर के निरन्तर परिवर्धन का फल है। विषय की बहुविधता, भिन्न भिन्न अंशों का शैलीसम्बन्धी तारतम्य, अनेक प्रकार के छन्दों का प्राचुर्य, परस्परविरोधी सामञ्जस्य-विघातक सिद्धान्तों का प्रतिपादन, इत्यादि सभी बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत की मूलकथा काल-क्रम से अनेक मस्तिष्कों की पृथाग्विध कल्पनाओं से आप्लावित हो कर इस विलक्षण मिश्रित स्वरूप को प्राप्त हुई है। महाभारत स्वयं इस बात में प्रमाण है कि उस का मूलस्वरूप 'जय' नाम का इतिहास आधुनिक स्वरूप से बहुत छोटा था। उस को कम से कम दो बार परिवर्धित किया गया है। भिन्न भिन्न विस्तार और विभाग एवं पृथक् पृथक् नामों का निर्देश किया गया है और उस का आरम्भ भी तीन पृथक् स्थलों से बताया गया है—

"मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथाऽपरे
तथोपरिचरादन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥"

विपर्यासोपपत्ति—साधारणतया यह माना जाता है कि महाभारत की रचना ऐतिहासिक आधार पर हुई है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि मूलकथा में उलट फेर किया गया है। पाण्डव वस्तुतः ऐसे नहीं थे जैसा कि उन को महाभारत में चित्रित किया गया है। यहाँ उन के चरित्र को जान बूझ कर चमत्कृत और समुज्ज्वल बनाया गया है ! प्रोफैसर हापकिन्स्, (Hopkins), चिन्तामणि वैद्य एवं अन्यान्य लब्धप्रतिष्ठ विद्वान उक्त उपपत्ति पर विश्वास नहीं करते।

वैद्य महोदय विकास की निम्नलिखित अवस्थाओं का प्रतिपादन करते हैं।

प्रथम अवस्था—मूल महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ था जिस का नाम 'जय' था—*जयनामेतिहासोऽयम्, ततो जयमुदीर्य्येत्*, इत्यादि। उस का आरम्भ *"उपरिचर—"* इत्यादि त्रेसठवें अध्याय से होता है। प्रोफैसर मैकडानल का विचार है कि इस जय नाम के इतिहास में ८८०० श्लोक थे। किन्तु श्रीमान् वैद्य का विश्वास है कि उक्त संख्या कूट श्लोकों की है, सब पद्य मिला कर सम्भवतः २०,००० थे। यह वर्तमान महाभारत का आख्यान-भाग है। परम्परा के अनुसार पराशर के पुत्र द्वैपायन व्यास उस के रचयिता हैं। इस नाम का एक व्यक्ति प्राचीन भारत में विद्यमान था, यह बात कृष्ण यजुर्वेद के काठक भाग में *"व्यास-पाराशर्य"* के उल्लेख से सिद्ध होती है। उक्त परम्परा पर अविश्वास करने में कोई

कारण नहीं है। जैसा कि श्रीयुत् पार्जिटर (Pargiter) ने कहा है, परम्परा के विरुद्ध जब तक कोई प्रबल प्रमाण न हो उस की सत्यता पर सन्देह करना अनुचित है। भाषा कहीं कहीं बहुत आर्ष है।

द्वितीय अवस्था—प्रथम परिवर्धन में कुछ वीर कथाएँ मिलाई गईं। आस्तीकोपाख्यान से उस का आरम्भ होता था और सम्भवतः उस का नाम 'भारत' रखा गया था जिस में २४,००० पद्य थे। परम्परा के अनुसार इस का सम्पादक वैशम्पायन था जो अश्वलायनगृह्यसूत्र में 'भारताचार्य' पद से उल्लिखित है।

तृतीय अवस्था—दूसरा परिवर्धन वीरकाव्य की सीमाओं को लांघ कर विस्मयावह विस्तार को प्राप्त हो गया। श्लोकों की संख्या २४,००० से एक लाख के निकट पहुँच गई। उस का आरम्भ 'मनु' पद से होता है और महाभारत नाम से उस की प्रसिद्धि हुई—

"महत्वाच्च भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते।"

यह विशालकाय ग्रन्थ अनुपर्वों में विभक्त किया गया। इस का सम्पादन करने वाला 'सौति' कहा जाता है। प्रचलित उपाख्यानों से पूर्वजों के प्राक्तन गीत संगृहीत किए गए और बड़े कौशल से आख्यानों की प्रस्पन्दिनी परम्परा के साथ उन को पिरोया गया। सावित्रीसत्यवान्, शकुन्तलोपाख्यान, नलदमयंतीचरित्र, आदि अनेक रमणीय कथाएँ भी उन में

ठोस दी गई। महाभारत को धार्मिक और दार्शनिक विचारों का भाण्डार बनाने की लालसा से संग्रह करने वालों ने उपदेशपूर्ण विषयों की इतनी भरमार की कि आख्यान उपदेश से आच्छादित हो गया। वह पाँचवां वेद माना जाने लगा—सदुपदेश और दार्शनिक रहस्यों का एक बृहत्कोष बन गया।

हापकिन्स कहते हैं कि रचनाकाल से ले कर ही प्रस्तुत ग्रन्थ एक प्रकार की सायं-क्रिया (Evening process) के आधीन किया गया है अर्थात सायं के समय कथक कथा करते हुए कुछ श्लोक अपनी ओर से जोड़ देते होंगे। इस पर एक और लेखक फ़रमाते हैं कि यह विशाल वीरकाव्य प्रबुद्ध भारतवर्ष की साँझी जातीय सम्पत्ति है। एक वश्यवाक् सुकृती के द्वारा, जिस ने कतिपय पुष्प-स्तबक लगाए हैं, आरम्भ हो कर महाभारतरूपी पौधा देश के साहित्यिक मालियों के अनवरत प्रयत्न से सींचा जा कर स्वच्छन्दतापूर्वक इतना समृद्ध हुआ कि आज उस के स्थान में हमें एक सघन भव्य वन नज़र आता है जिस में अत्यन्त स्वादिष्ठ फलों और सुगन्धित पुष्पों का प्राचुर्य है और जो अविनाशी स्रोतों से सींचा गया है।

महाभारत की प्राचीनता

कुरुपाञ्चाल जातियों का उल्लेख यजुर्वेद में मिलता है, यद्यपि वहाँ जो कथा दी गई है वह कुछ भिन्न है।

काठक ने धृतराष्ट्र वैचित्रवीर्य का उल्लेख किया है।

शतपथ के उत्तरकालीन अंशों में महाभारत के कथासूत्र ('Circling narration') का उल्लेख है।

श्रोत्रपरम्परा के अनुसार मूल महाभारत का रचयिता व्यास उक्त ग्रन्थ में वर्णित घटनाओं का समकालीन था। महाभारत का काल परम्परा के अनुसार सन ईस्वी के ३१३९ वर्ष पूर्व माना जाता है। श्रीयुत् वैद्य ने इसी काल का समर्थन किया है। किन्तु सामान्यतया महाभारत के युद्ध का समय सन ईस्वी के पूर्व १३०० वर्ष के लगभग रखा जाता है। एक समय ऐसा भी था कि पाश्चात्य विद्वानों को भारतीय युद्ध के अस्तित्व पर ही सन्देह था, किन्तु अब बहुत से स्कालर इस बात को स्वीकार करते हैं कि यह भारतवर्ष के इतिहास में युगपरिवर्तन का समय था। प्रोफैसर मैकडानल के विचार में महाभारत की कथा का मूल दशवीं शताब्दी ईसा पूर्व के बाद का नहीं हो सकता।

आधुनिक महाभारत का समय

निचली सीमा—यवन, पह्लव और शक जातियों के उल्लेख से सूचित होता है कि महाभारत यूनानी आक्रमण के उपरान्त अपने वर्तमान स्वरूप में आया है ।

जावा में उस का अनुवाद ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ है। इसी शताब्दी में क्षेमेन्द्र ने अपनी 'भारतमञ्जरी' लिखी जिस का मूल भाग आधुनिक महाभारत से भिन्न नहीं था। श्रीशङ्कराचार्य नवीं शताब्दी में स्मृति कह कर उस का उल्लेख करते हैं। कुमारिल आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में उस को अति प्राचीन कृति मानता है। बाण और सुबन्धु सम्पूर्ण महाभारत से ही नहीं किन्तु हरिवंश से भी पूर्णतया परिचित थे।

भारतीय उपनिवेश कम्बोज के छठी शताब्दी के शिलालेख से सिद्ध होता है कि उस समय प्रतिदिन वहाँ महाभारत की कथा होती थी। पाँचवीं शताब्दी के एक शिलालेख से यह बात सिद्ध हो जाती है कि महाभारत का विस्तार उस समय भी इतना ही था जितना अब है। उस समय भी वह श्रुति मानी जाती थी। दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में डिओन क्राइसोटोसन ने महाभारत का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि भारतीय लोग अपनी भाषा में होमर (Homer) का गायन करते हैं। उस समय यह वीरकाव्य बहुत लोकप्रिय और सुप्रसिद्ध रहा होगा क्योंकि उस ने यह सब सम्भवतः पश्चिमी भारत के अपठित मल्लाहों से सुना होगा। इस के अतिरिक्त पहिली और दूसरी शताब्दियों के शिलालेखों में वसुदेवभक्ति का उल्लेख मिलता है। अतएव यह कहना पूर्णतया युक्तियुक्त है कि महाभारत सन ईस्वी के पूर्व ही पूर्ण हो चुका था।

अन्त में प्रोफैसर हापाकिन्स के साथ सहमत होते हुए हमें यह कहना पड़ता है कि महाभारत का कोई ऐसा समय नहीं है जो उस के सब अंशों के विषय में चरितार्थ हो, यद्यपि संग्रहकर्त्ता सामान्यतया सन ई० के पूर्व दूसरी शताब्दी उस का समय लिख सकते हैं।

प्राचीन साहित्य में महाभारत का उल्लेख

आश्वालायनगृह्यसूत्र में महाभारत का उल्लेख है। पाणिनि ने युधिष्ठिर इत्यादि महाभारतीय नामों तथा वासुदेव सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। हापाकिन्स का विश्वास है कि पाणिनि के समय

में महाभारत विद्यमान था। कुछ 'जातक' पाण्डु की कथा से परिचित हैं। मेगास्थनीज़ ने भारतीय हरक्यूलीज़ का उल्लेख किया है जो कृष्ण या बलराम के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। कौटिल्य ने दुर्योधन के लोभ के कारण विनष्ट होने का वर्णन किया है। इन उल्लेखों से सूचित होता है कि महाभारत सन ई० के पूर्व चौथी शताब्दी में विदित था। भास के अधिकांश नाटकों की कथाएँ महाभारत से ली गई हैं। बलराम की पूजा का भी उस से स्पष्ट पता लगता है।

महाभारत की मूल कथा

महाभारत की प्रधान कथा संक्षेप से इस प्रकार है। वर्तमान देहली से लगभग ७५ मील उत्तरपूर्व की ओर हस्तिनापुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर था। यहाँ कुरुवंशी राजाओं की राजधानी थी। राजकुमार धृतराष्ट्र जन्म के अन्धे थे, अत एव राज्य उन के छोटे भाई पाण्डु को मिला। पाण्डु के पाँच पुत्रों में युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन और धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों में दुर्योधन प्रधान था। पाण्डु की अकाल मृत्यु के कारण धृतराष्ट्र को राजकाज अपने हाथ में लेना पड़ा। पाण्डव राजकुमारों की शिक्षा का प्रबन्ध राजप्रासाद में कुरु-कुमारों (धृतराष्ट्र के पुत्रों) के साथ ही किया गया। उन के शस्त्र-कौशल एवं युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठता से प्रसन्न हो कर धृतराष्ट्र ने धर्मराज युधिष्ठिर को अपना उत्तराधिकारी बनाया। कौरवों के उपजापों और षड्यन्त्रों से बचने के लिए पाण्डवों को बाहर निकलना पड़ा।

हस्तिनापुर से वे पाञ्चालनरेश की राजधानी में पधारते हैं। अर्जुन स्वयंवर में राजकुमारी द्रौपदी को प्राप्त करता है। यहीं पाण्डवों की श्रीकृष्ण से मित्रता होती है। धृतराष्ट्र उन को आधा राज्य देता है। यहाँ वे इन्द्रप्रस्थनगर (वर्तमान देहली) को बसाते हैं।

पाण्डव बड़ी बुद्धिमत्ता से राज्य करने लगे और उत्तरोत्तर उन की समृद्धि होने लगी। दुर्योधन की द्वेषाग्नि भड़क उठी। निपुण जुआरी शकुनि की सहायता से उस ने अपने चचेरे भाइयों को नष्ट करना चाहा। धृतराष्ट्र से पाण्डवों को हस्तिनापुर में बुलवा भेजने का आग्रह किया गया। यहाँ दुर्योधन के साथ जुआ खेलने में युधिष्ठिर अपना सर्वस्व खो बैठे। राज्य, सम्पत्ति, सैना, भाइयों, यहाँ तक कि द्रोपदी को भी हार बैठे। आख़िर यह सुलह हुई कि यदि पाण्डव बारह वर्ष वन में रहने के बाद एक वर्ष तक गुप्तवास करेंगे, तो उन का राज्य उन्हें वापिस दिया जावेगा।

बारह वर्ष काम्यक वन में रह कर तेरहवें वर्ष गुप्तरूप से वे मत्स्यराज विराट के राज-भवन में काम करते हैं। इसी बीच कौरव एक और राजा की सहायता से मत्स्य भूमि पर आक्रमण करते हैं। पाण्डव वहाँ से शत्रु को भगाते हैं और विराट को फिर उस के राज्य में स्थापित करते हैं। अब वे अपना सब भेद खोल कर विराट से मित्रता कर लेते हैं।

राज्यप्राप्ति के लिए कौरवों को सन्देश भेजा जाता है किन्तु कुछ उत्तर न मिलने पर युद्ध की तय्यारियां होने लगती

हैं। कुरुक्षेत्र में १८ दिन तक बड़ा घमसान युद्ध होता है। कौरवों के एक एक कर के सब वीर समरभूमि में काम आते हैं। पाण्डवों की विजय होती है। धर्मराज युधिष्ठिर चक्रवर्ती राज्य करने लगते हैं। किन्तु यह सुख के दिन थोड़े ही हैं। यादववंश के क्षय से संक्षुब्ध हो कर श्रीकृष्ण वन को शरण लेते हैं और वहाँ एक व्याध के तीर से मारे जाते हैं। संसार की असारता से खिन्न हो कर पाण्डव भी अर्जुन के पौत्र परीक्षित को राज्य दे कर वन का रास्ता लेते हैं और सुमेरु पर्वत पर प्राण त्याग कर परम धाम को पहुँचते हैं।

महाभारत के उपाख्यान

महाभारत का तीन चौथाई से अधिक अंश उपाख्यानों से भरा पड़ा है। इन के हृदयंगम होने के पृथक् पृथक् कारण है। कतिपय आख्यान ऐसे भी हैं जिन की कविता हृदय को तन्मय कर देती है।

शकुन्तलोपाख्यान को ले कर कालिदास ने शकुन्तलानाटक की रचना की है।

सावित्री सत्यवान् की कथा को सुन कर हृदय गद्गद हो जाता है। राजकुमारी सावित्री पिता की अनुमति पा कर अपने लिए वर ढूँढ़ने निकलती है। जब एक आश्रम में पहुँचती है तो एक अन्धे निर्वासित राजा के पुत्र सत्यवान् पर उस की दृष्टि पड़ती है। उस की आकृति और गुणों पर मुग्ध हो कर सावित्री उसे अपना वर चुन लेती है। महानुभावता और

गुणग्राहिकता का कितना ऊंचा आदर्श है ! सावित्री के विशाल हृदय में विलासिता और सुखोपभोग की सामग्री के लिए इतना महत्त्व कहाँ कि वह एक निर्धन राज्यविहीन राजकुमार के गुणों पर रीझ कर भी उस को न वरे ! सत्यवान् की मोहिनी मूर्त्ति को अपने हृदय में रख कर अनुयायि-वर्ग के साथ जब वापिस होती है तो नारद जी भी वहाँ पहुँचते हैं । आह ! अनात्मज्ञ सावित्री, यह तू ने क्या अनर्थ किया ? क्या तेरे लिए संसार में और कोई योग्य वर नहीं था कि तू ने एक अल्पवयस्क, धन-जन से हीन युवक को अपना पति वरा ? सत्यवान् आज से ठीक एक वर्ष के बाद मर जावेगा ! अब उचित यही है कि तुम अपने इस संकल्प को छोड़ दो और किसी अन्य को वरो। नारद जी की बात सुन कर आर्य-कुमारी सावित्री को आँखों के सामने अन्धकार छा गया । कुछ सम्हल कर बोली—जिसे एक वार हृदय में स्थान दे चुकी हूँ, उसे छोड़ कर अपने आर्य-धर्म को कलङ्कित न करूंगी, आजन्म वैधव्य दुःख भले ही सहन करना पड़े । आखिर सत्यवान् के साथ उस का पाणि-ग्रहण हो जाता है । पुण्यकीर्ति सावित्री आश्रम पहुँच कर जी जान से सास ससुर और पति की सेवा करती है । किन्तु क्षण क्षण में नारद के वचन उस के हृदय पर खटकते रहते हैं । अवधि के केवल तीन दिन रह गए हैं । सावित्री ने व्रत रखना आरम्भ कर दिया है । तीसरा दिन आता है । सत्यवान् नित्य नियम से समिधा लेने के लिए वन को जाने लगता है । शून्य-हृदया सावित्री उस को रोकना चाहती है ।

जब वह नहीं मानता तो वह भी साथ ही जाती है। वन में पहुँच कर अकस्मात् सत्यवान् का माथा दुखने लगता है। सावित्री की गोद में लेट कर थोड़ी देर में वह यम का अतिथि बन जाता है। यम स्वयं उस के प्राणों को लेने आता है। सावित्री भी साथ हो लेती है। यम उस को किसी तरह लौटाना चाहता है। वर देते देते थक जाता है। आखिर हार मान कर उसे सत्यवान् को पुनर्जीवित करना होता है। सावित्री के सतीत्व के प्रभाव से उस का श्वसुर चक्षुष्मान् हो जाता है और उसे उस का खोया हुआ राज्य वापिस मिल जाता है। पितृ-कुल में भी समृद्धि होने लगती है। सावित्री आर्य महिलाओं की आदर्श रही है। उस का विमल चरित्र हमारे हृदयों को अब भी उजागर कर रहा है। उस की गुणगरिमा का स्मरण हो आने पर हमारे मुख से उद्गारभरे शब्द निकल आते हैं—'क्या अब भी पुण्यभूमि भारत में सावित्रियां जन्म लेंगी ?

नलोपाख्यान भी इसी प्रकार की एक अत्यन्त सुन्दर कल्पना है। दमयन्ती का सतीत्व कुत्सित हृदय को भी एक वार उन्नत किए विना नहीं रह सकता। विदर्भ-राजकुमारी दमयन्ती स्वयंवर में नैषध-राज नल को अपना पति वरती है। कई वर्ष इस आदर्श दम्पती के सुख से बीतते हैं। किन्तु कलि के प्रभाव से नल जुए में अपने सम्पूर्ण राज्य को खो बैठता है। दमयन्ती के साथ वन में भटकता फिरता है। एक वार अपनी हीनावस्था से अत्यन्त दुःखी होकर वह सोती हुई दमयन्ती को

छोड़ वहाँ से चल देता है। इस समय का दृश्य अत्यन्त करुण है। नल उस निरपराधिनी अबला को सहसा नहीं छोड़ सकता। वार वार उस की ओर वापिस आता है किन्तु आखिर उसे अपना जी कड़ा करना पड़ता है। दमयन्ती जागती है तो उस का हृदय धक से हो जाता है। अनेक प्रकार के विलाप करती हुई वह उस भयावह निर्जन वन को गुंजा देती है। आखिर किसी तरह अपने पिता के घर में पहुँचती है। इधर नल बोने के रूप में परिवर्तित हो कर अयोध्या के राजा का सारथी बन जाता है। अन्त में दमयन्ती को अपने पति के ठिकाने का कुछ आभास मिलता है। पति का पता लगाने के उद्देश्य से वह पुनर्विवाह का बहाना करती है। अवध के राजा को वह यह आशा दिलाती है कि यदि एक दिन में ५०० मील रथ से चल कर कुण्डिन में पहुँच जाओगे तो मैं तुम से अपना विवाह कर लूंगी। नल एक दिन में ही राजा को वहाँ ले आता है। राजा अश्वविद्या के बदले में उस को द्यूत के सारे रहस्य बता डालता है। दमयन्ती अपने पति को पहिचानती है। नल उसी समय अपना असली स्वरूप प्राप्त करता है और फिर से जुआ खेल कर अपने खोए हुए राज्य को पा लेता है।

यद्यपि नलोपाख्यान में अलौकिक घटनाओं को सन्निविष्ट किया गया है, तथापि उक्त उपाख्यान में जो वास्तविक कविता है उस को दूषित करने में ये घटनाएँ समर्थ नहीं हैं।

रामायण

कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥

रामायण की शाखाएं

मूल रामायण उस समय स्वरूप धारण कर चुकी थी जब महाभारत परिष्पन्दनावस्था में ही थी—निश्चित स्वरूप को नहीं प्राप्त हुई थी ।

अपने वर्तमान स्वरूप में रामायण सात काण्डों और लगभग चौबीस हज़ार श्लोकों में समाप्त हुई है और इस समय उस की तीन शाखा उपलब्ध हैं—पश्चिमभारतीय, बंगाली और बम्बई-प्रान्तीय । लगभग एक तिहाई श्लोक अन्य दो में नहीं मिलते । बम्बई-प्रान्तीय संस्करण में बहुधा मूल ग्रन्थ के आर्ष प्रयोगों को सुरक्षित रखा गया है । अन्य दो संस्करण लौकिक संस्कृत साहित्य के उन केन्द्रों में प्रादुर्भूत हुए जहाँ क्रम से उन की भाषा ने नवीन आवरण को धारण कर लिया । इस तारतम्य का एक कारण यह हो सकता है कि इस वीरकाव्य के सुनाने वाले वैतालिकों और कुशीलवों की श्रोत्रपरम्परा में देश और काल की भिन्नता के कारण अनवस्थिति आ गई और अन्त में लिखे जाने के समय देश के भिन्न भिन्न भागों में एक ही मूल कथा ने स्वभावतः कुछ हेर फेर के साथ तीन पृथक् रूप धारण कर लिए । इस प्रकार स्वरूप

निश्चित हो जाने के उपरान्त उन की भी अन्यान्य लिखित ग्रन्थों जैसी दशा हुई। अपेक्षा दृष्टि से वे बहुत प्राचीन नहीं मालूम होते। आठवीं और नवीं शताब्दी की पुस्तकों में रामायण के जो अवतरण मिलते हैं उन से जान पड़ता है कि पश्चिम-भारतीय और बम्बई-प्रान्तीय शाखाओं से सम्बद्ध शाखा उस समय विद्यमान थीं। इस के अतिरिक्त यह भी मालूम होता है कि रामकथामञ्जरी के रचयिता क्षेमेन्द्र ने ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में पश्चिमभारतीय और सम्भवतः बंगाली शाखा से भी काम लिया है। सम्भव हैं इसी शताब्दी में रामायणचम्पू के लेखक भोज ने बम्बई-प्रान्तीय संस्करण से काम लिया हो। प्रोफैसर लेवि ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि पश्चिम-भारतीय (काश्मीरी) शाखा ही प्राचीनतम है।

रामायण का विकास

प्रोफैसर जैकोबी ने सिद्ध किया है कि मूल रामायण में केवल पाँच ही काण्ड थे—पहिला और सातवां काण्ड पीछे से मिलाये गए हैं और छठे काण्ड का उपसंहार स्पष्टतया किसी समय सम्पूर्ण काव्य का अन्त था। प्रथम काण्ड में कई बातें ऐसी हैं जिन का अन्य काण्डों से विरोध है। इस के अतिरिक्त उस के पहिले और तीसरे सर्ग में दो पृथक् पृथक् विषय-सूचियाँ मिलती हैं जो निःसन्देह भिन्न भिन्न समय में बनी होंगी। उन में से एक में पहिले और सातवें काण्ड का कोई ज़िक्र ही नहीं, जिस से यह सिद्ध होता है कि यह सूची उक्त दो काण्डों के लिखे जाने से पूर्व बनी होगी। जो

प्रसंग स्पष्टतया पहिले मूल ग्रन्थ के उपक्रम का एक अंश था, अब प्रथम काण्ड के पाँचवें सर्ग के आरम्भ में रख दिया गया है। मूल काण्डों में भी कुछ सर्ग बाद में मिलाये गए हैं। जैसा कि प्रोफैसर जैकोबी ने दिखलाया है, प्रक्षिप्त अंश मूल ग्रन्थ में इस शिथिलता के साथ संलग्न किए गए हैं कि सन्धियां साफ़ नज़र आती हैं। किन्तु उन में प्राचीन अंश की अपेक्षा से ऐसा प्रतीत होता है, भावसन्निवेश की भिन्नता नहीं है और लोकरुचि के अनुसार समय समय पर वैतालिकों ने उस में वृद्धि की। काव्य बाँचा अथवा वीणा के स्वर में गाया जाता था और सब से पहिले श्रीरामचन्द्र जी के युगलपुत्र लव और कुश ने उस को सुनाया था। प्रोफैसर मैकडानल का विचार है कि ये नाम कुशीलव (नट) शब्द को समझाने के लिए सर्वसाधारण की व्युत्पत्तिविधायक कल्पनामात्र हैं। जो तीन शाखा हम तक पहुँची हैं, उन के प्रादुर्भूत होने से पूर्व ही प्रक्षिप्त अंश मूल ग्रन्थ में मिल चुके थे, किन्तु मूल काव्य और प्रक्षिप्त भाग के रचे जाने के बीच में प्रचुर समय व्यतीत हुआ होगा। क्योंकि मूल का उपजातीय चरित्रनायक परिवर्धित अंश में जनता का आदर्शभूत राष्ट्रीय चरित्र बनाया गया है, और मूल काण्डों का मानवी चरित्रनायक पहिले और सातवें काण्ड में दिव्य नायक के रूप में चित्रित किया गया है, विष्णु के साथ उस का तादात्म्य दर्शाया गया है। यहाँ भी रामायण के रचयिता वाल्मीकि राम के समकालीन जान पड़ते हैं और पहिले ही से मुनियों की गणना में रखे गए हैं। निःसन्देह इस प्रकार के परिवर्तनों में बहुत समय लगा होगा।

उत्पत्तिस्थान—कोसल प्रान्त को, जिस पर अयोध्या में इक्ष्वाकुवंशी राजा शासन करते थे, रामायण का उत्पत्ति-स्थान मानना ही बहुत कुछ युक्ति-युक्त मालूम होता है। कारण, सातवें काण्ड (पैंतालीसवें सर्ग) से हमें विदित होता है कि वाल्मीकि का आश्रम गंगा के दक्षिण तट पर था। अपि च, अयोध्या के राजवंश से कवि का कुछ न कुछ सम्बन्ध भी अवश्य रहा होगा क्योंकि निर्वासित सीता उन के ही आश्रय में आश्रय लेती है, जहाँ उस के लव और कुश दो यमज पुत्र जन्म लेते हैं और लालित पालित हो कर रामायणीय कथा को गाते हैं। इस के अतिरिक्त पहिले काण्ड में यह वर्णन आता है कि रामायण का प्रादुर्भाव इक्ष्वाकु-वंश में हुआ है। अयोध्या में वैतालिकों के बीच इक्ष्वाकु-वंशी राम के जीवनविषयक अनेक कथानक प्रचलित रहे होंगे। इन्हीं कथाओं को कविता के मनोहर रङ्गों में रंग कर वाल्मीकि ने आदि-कवि होने का जो सौभाग्य प्राप्त किया है, वह समुचित ही है। उपजीवी कुशीलवों ने इस रचना को सीखा और देश में घूम फिर कर उस का कीर्तन किया।

रामायण का समय

मालूम होता है कि रामायण का असली अंश उस समय पूरा हो चुका था जब महाभारत अनिर्धारित अवस्था में ही था—उस ने कोई निश्चित रूप नहीं धारण किया था। इस में प्रमाण यह है कि रामायण में महाभारत के चरित्रों का कोई उल्लेख नहीं। इस के विपरीत भारतीय बीरकाव्य में

रामायणीय कथा का अकसर निर्देश किया गया है। यही नहीं, महाभारत के सातवें पर्व के एक स्थल पर, जो प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता, वाल्मीकि के नाम से दो पद्य उद्धृत किए गए हैं जो रामायण के छठे काण्ड में विना किसी परिवर्तन के पाए जाते हैं। अतएव महाभारत के सम्बद्ध रूप में आने से पूर्व रामायण एक प्राचीन रचना समझी जाती होगी। महाभारत के तीसरे पर्व (२७७ से २९१ सर्गों) में एक रामोपाख्यान है जो रामायण के आधार पर लिखा हुआ मालूम होता है, क्योंकि उस में अनेक पद्य ऐसे हैं जो थोड़ा बहुत वाल्मीकि के छन्दों से मिलते हैं और उस का रचयिता अपने श्रोताओं से रामायण की बम्बई-प्रान्तीय शाखा से परिचित होने की आशा रखता है।

रामायण का समय निर्धारित करने में एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि बौद्ध साहित्य से उस का क्या सम्बन्ध है? राम की कथा कुछ हेर फेर के साथ पाली भाषा के दशरथ जातक (जो बुद्ध की जन्म-कथाओं के अन्तर्गत है) में पाई जाती है। उक्त जातक में केवल राम की वनवास-विषयक घटनाओं तक का ही उल्लेख है जिस से आरम्भ में यह भ्रम होना सम्भव है कि वह रामायण से अधिक पुराना है, किन्तु अन्यत्र हमें यह सूचित होता है कि पाली जातकों का लेखक लङ्का में पहुँचने के बाद की घटनाओं से भी अभिज्ञ था। इस के अतिरिक्त रामायण के प्राचीन अंश का एक पद्य पाली के रूप में प्रस्तुत जातक में पाया जाता है जो इस के गद्य के बीच संनिविष्ट है।

बौद्ध धार्मिक लेखों में श्लोक का जिस निरङ्कुशता के साथ प्रयोग किया गया है उस से कोई यह अनुमान कर सकता है कि ये लेख रामायण से अधिक प्राचीन हैं। किन्तु वस्तुतः ये पाली रचनाएँ लौकिक संस्कृत के श्लोक के नियमों का अनुसरण करती हैं। जो कोई विप्रतिपत्तियां हैं उन का एक कारण तो यह है कि पाली भाषा पहिले से साहित्यिक भाषा नहीं थी—इस कार्य के लिए वह एक दम नई थी, दूसरा कारण यह है कि पाली भाषा के ग्रन्थ पूर्णतया सुरक्षित नहीं रह सके। बौद्ध साहित्य में आर्या छन्द का प्रयोग किया गया है जो लौकिक संस्कृत में इतना लोकप्रिय होने पर भी संस्कृत वीरकाव्यों में नहीं पाया जाता है। केवल एक स्थल पर, जो स्पष्टतया प्रक्षिप्त है, रामायण में बुद्ध का उल्लेख मिलता है। अतएव उक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मूल रामायण का आविर्भाव बौद्ध धर्म से पूर्व हो चुका था।

कालनिर्णय की दृष्टि से यह प्रश्न भी निःसन्देह बड़े महत्त्व का है कि रामायण का रचयिता यूनानियों से परिचित था या नहीं। पर्यवेक्षण करने पर मालूम होता है कि केवल दो वार—एक वार प्रथम काण्ड में और एक वार चौथे काण्ड में जहाँ प्रोफैसर जैकोबि ने उस को प्रक्षिप्त सिद्ध कर दिया है, रामायण में यवनों का उल्लेख हुआ है। इस से केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि यह प्रक्षिप्त अंश सन ईस्वी के पूर्व ३०० वर्ष के उपरान्त किसी समय मिलाए गए होंगे। प्रोफैसर वेबर के इस कथन में कोई सत्यता नहीं कि रामायण पर

यूनान का प्रभाव पड़ा है। हेलेन (Helen) के अभिमर्षण और ट्रोजन युद्ध के साथ सीता के अपहरण और उस को मुक्त करने के लिए लङ्का-प्रयाण का कोई वास्तविक सादृश्य नहीं है। न इस कथन को पुष्ट करने के लिए ही कोई प्रबल युक्ति है कि सीता के लिए राम का धनुष तोड़ने का वर्णन यूलीसेस (Ulysses) के विक्रमों से लिया गया है। यूनानियों के अतिरिक्त अन्य जातियों के काव्य-सन्दर्भों में भी सदृश पदार्थों के लिए शक्तिमत्ता की एक ही जैसी कथाएँ देखने में आती हैं और उन का स्वतन्त्र रूप से प्रादुर्भाव होने में कोई असम्भावना नहीं।

रामायण में पूर्वी भारत की जो राजनैतिक अवस्था व्यक्त की गई है उस से इस वीरकाव्य के समय पर कुछ और प्रकाश पड़ता है। प्रथम बात तो यह है कि उस में पाटलिपुत्र (पटना) का, जिस को उदय ने सन ईस्वी के ४५० वर्ष पूर्व स्थापित किया था, कोई ज़िक्र नहीं है यद्यपि रामायण में राम के ठीक उसी स्थान से हो कर जाने का वर्णन आता है। यदि उक्त नगर उस समय विद्यमान होता तो कवि अवश्य ही उस का वर्णन करता।

यह भी एक ध्यान देने की बात है कि मूल रामायण में कोसल-प्रान्त की राजधानी हमेशा अयोध्या नाम से पुकारी जाती है, किन्तु बौद्ध, जैन, यवन और पतञ्जलि उस का साकेत नाम से उल्लेख करते हैं। रामायण के अन्तिम काण्ड से मालूम होता है कि लव ने श्रावस्ती को अपनी राजधानी बनाया था— मूल ग्रन्थ में कहीं इस नगर का नाम नहीं आया है। बुद्ध के

समय में कोसल की राजधानी श्रावस्ती थी जिस में प्रसेनजित् नाम का राजा राज्य करता था। इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल रामायण अयोध्या के छोड़ जाने और श्रावस्ती के राजधानी बनने से पूर्व लिखी जा चुकी थी जब कि अयोध्या के नये नाम साकेत की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी।

अपि च, प्रथम काण्ड के प्राचीन अंश में मिथिला और विशाला युग्म नगर बताये गए हैं जिन का शासन एक दूसरे से स्वतन्त्र था, जब कि हम जानते हैं कि बुद्ध के समय दोनों वैशाली नाम के विश्रुत नगर से, जिस का शासन पंचायत के द्वारा होता था, मिल गए थे।

रामायण में जिन राजनैतिक अवस्थाओं का वर्णन किया गया है उन से प्रकट होता है कि उस समय छोटे छोटे माण्डलिक राजा होते थे जिन की राज्य-सीमाएँ बहुत संकुचित होती थीं: वे कभी जटिल राज्यों के अस्तित्व को प्रदर्शित नहीं करतीं। इस के विपरीत महाभारत में जरासन्ध नामी एक शक्तिशाली राजा का वर्णन आता है जिस के राज्य में मगध के सिवाय और भी अनेक प्रदेश सम्मिलित हैं, जिस से सन ईस्वी के ३०० वर्ष पूर्व की राजनैतिक अवस्थाओं का आभास प्रकट होता है। उपर्युक्त युक्तियों के राशीभूत प्रमाण की विद्यमानता में यह मानना पड़ता है कि रामायण का सार भाग सन ईस्वी के ५०० वर्ष पूर्व लिखा जा चुका था।

यह अनुमान रामायण के भाषासम्बन्धी साक्ष्य पर दृष्टि डालने से परिपुष्ट होता हुआ मालूम नहीं होता, क्योंकि बम्बई प्रान्तीय शाखा की भाषा से ऐसी विकसित अवस्था प्रकट

होती है जो पाणिनि के बाद की जान पड़ती है और जिस का उक्त वैयाकरण ने कोई विचार नहीं किया है। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, रामायण पाणिनि की उत्तरकालीन नहीं हैं। कारण, पाणिनी ने शिष्टों की संस्कृत भाषा पर ही विचार किया है जिस का पर्यटनशील वैतालिकों की लोकोचित भाषा की अपेक्षा अधिक प्राचीन होना स्वाभाविक ही है, और जिस की उपेक्षा करना सर्वथा उन के अनुरूप ही था। फिर, अशोक के शिलालेखों के समय, पाणिनी के पचास वर्ष बाद भारतवर्ष के उस भाग में, जहाँ रामायण को जन्म मिला है, लोगों की भाषा प्राकृत थी। अतएव यह सम्भव नहीं कि रामायण, जिस का उद्देश्य लोक-रञ्जन था, ऐसे समय में रची गई हो जब कि सर्वसाधारण उस को समझने के लिए समर्थ नहीं थे। यदि रामायण की भाषा को पाणिनि की उत्तरकालीन मानें तो फिर यह कुछ नहीं सूझ पड़ता कि उस के प्रबल प्रभाव से वह किस प्रकार असंपृक्त रही। अधिक संभावना इसी बात की है कि वीरकाव्यों की लोकोचित संस्कृत वाल्मीकि के काव्यसन्दर्भ जैसी रचना के द्वारा बहुत पहिले प्रचलित हो गई थी। महाकाव्यों का सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण करने से मालूम होगा कि उन का प्राक्तन वीरकविता की भाषा से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है और पाणिनी के नियमों की उन में जहाँ तहाँ (लोगों की जो धारणा है उस से अधिक) उपेक्षा की गई है।

मूल के पाँच काण्डों में वर्णित रामायणीय कथा दो परिस्फुट अंशों में विभक्त होती है। पहिले अंश में, अयोध्या में जो

घटनाएँ घटती हैं और उन का जो विपरिणाम होता है उन सब का वर्णन किया गया है। यहाँ पर मानवी चरित्र का एक स्वाभाविक चित्र हमारी आंखों के सामने आता है। हम देखते हैं कि एक राजमहिषी अपने षड्यन्त्रों के द्वारा अपने पुत्र को राज्य का अधीश्वर बनाना चाहती है। बात बिल्कुल स्पष्ट है, किसी प्रकार की असंगति या अतिरञ्जना से दूषित नहीं और न किसी पौराणिक गल्प के आधार पर ही उस की सृष्टि की गई है।

दूसरे अंश में कुछ बात ही और है। उस में वह स्वाभाविकता और स्वारस्य नहीं है प्रत्युत गल्प के आधार पर उस की कल्पना की गई है जिस में असंगत और अद्भुत बातों की प्रधानता है। इसे लैसन (Lassen) के अनुसार दक्षिण में आर्य साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा अथवा वेबर के मतानुसार दक्षिण और लंका में आर्य-सभ्यता के विस्तार का आलंकारिक वर्णन मानने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। राम का इरादा दक्षिण में राज्य करने का रहा हो यह बात कहीं नहीं मिलती और न रामायण में कहीं भी यह दिखाया ही गया है कि उन के दक्षिण में जाने से वहाँ के निवासियों की सभ्यता में कोई परिवर्तन हुआ।

प्रोफैसर जैकोबि आदि पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार रामायणीय कथा की कल्पना के बीज वेदों में विद्यमान हैं। सीता ऋग्वेद में 'हल-रेखा' की शरीरिणी मूर्ति है और देवी के तौर पर पूजी जाती है। कतिपय गृह्यसूत्रों में वह भूमिदेवता मानी

गई है और उस के सौन्दर्य की खूब सराहना की गई है। इन्द्र अथवा पर्जन्य (वर्षा ऋतु) उस का पति है। इस उत्पत्ति के लक्षण रामायण में भी पाए जाते हैं। सीता की उत्पत्ति जनक के हल चलाते समय पृथ्वी से होती है और अन्त में उस का अन्तर्धान भी उसी में होता है। इसी प्रकार इन्द्र को राम, उस के शत्रु वृत्र को रावण, मरुतों को वानर, गौओं के चुराये जाने को सीता का अपहरण इत्यादि कल्पित किया गया है।

रामायण की मुख्य कथा अयोध्या नगर के वर्णन से आरम्भ होती है। मिथिलेश-कुमारी सीता के साथ राम का पाणि-ग्रहण होता है। कुछ समय के उपरान्त राजा दशरथ राम को युवराज बनाना चाहते है। इस शुभ समाचार से सारा नगर आमोद-प्रमोद से भर जाता है किन्तु राम की विमाता कैकेयी को यह बात खटकने लगती है। वह राजा से पूर्व-प्रतिज्ञात दो वर मांगती है। राम को सीता और लक्ष्मण के साथ चौदह वर्ष का वनवास मिलता है। राजा दशरथ शोकाभिभूत हो कर इस संसार से चल बसते हैं। भरत अपने ननिहाल से अयोध्या को वापिस आता है तो उस को अत्यन्त दुःख होता है। वन में जा कर राम को वापिस लाना चाहता हैं किन्तु राम नियत अवधि से पहिले नहीं लौटना चाहते, बिलखते हुए भरत को अपने खड़ाऊं दे कर बिदा करते हैं। भरत मुनिव्रत धारण कर अत्यन्त अनासक्ति और महानुभावता के साथ शासनभार को सिर पर लेता है।

इस के उपरान्त राम दण्डक वन को भयावह राक्षसों के आतंक से सुरक्षित करने में दत्तचित्त होते हैं। अगस्त्यमुनि की मन्त्रणा से इन्द्र से अस्त्र प्राप्त कर लेने पर वे युद्ध-कार्य आरम्भ करते हैं जिस में सहस्रों राक्षस मारे जाते हैं। दैत्येश्वर रावण क्रोधाकुल हो कर उन को छलने के लिए मायामृग भेजता है। इधर राम और लक्ष्मण मृग के पीछे भागते हैं, उधर कपटवेशधारी रावण अवसर पा कर सीता को हर ले जाता है। रास्ते में सीता की रक्षा करते हुए गृध्रराज जटायु मारा जाता है। राम नैराश्य और शोक से आकुल हो जाते हैं किन्तु दाह करते समय चिता से एक अशरीरिणी वाणी निकलती है जो राम को शत्रु पर विजय पाने का उपाय बताती है। इस के अनन्तर हनुमान् और सुग्रीव की सहायता से बालि मारा जाता है। हनुमान् लंका में जा कर सीता की ख़बर लाता है। वानरसेना को ले कर राम लंका में पहुँचते हैं और रावण को मार कर सीता देवी की रक्षा करते हैं। इस के बाद अग्नि में सीता के सतीत्व की परीक्षा होती है और फिर अयोध्या में प्रजा-रञ्जन राम का राज्य आरम्भ होता है।

पहिले और सातवें काण्ड के मिलाने से वाल्मीकि की रामायण में निम्नलिखित प्रकार से परिवर्तन किए गए हैं। रावण को जब ब्रह्मा से यह वर मिलता है कि देवता, दैत्य, गन्धर्व, किन्नर आदि उस को बध नहीं कर सकेंगे तो वह उस का इतना दुरुपयोग करता है कि देवता लोग नैराश्य से अभिभूत हो जाते हैं। किन्तु इसी बीच उन को याद आती है कि

अभिमान वश रावण ने मनुष्य से सुरक्षित रहने का वर नहीं मांगा था अतएव वे विष्णु से अभ्यर्थना करते हैं कि मनुष्य अवतार ले कर उस का विनाश करें। विष्णु तदनुसार रामावतार धारण करते हैं और आखिर रावण को मार कर देवकार्य को सिद्ध करते हैं। सातवें काण्ड के अन्त में ब्रह्मा और अन्य देवता राम के पास आते हैं और सन्मानपूर्वक उन्हें यह सुध दिलाते हैं कि आप मनुष्य नहीं विष्णु हो।

रामायण में अनेक मनोहर कथानक पाये जाते हैं। यहाँ पर इन में से एक का उल्लेख किया जाता है। वाल्मीकि गंगा के तट पर बैठे बैठे सोच रहे हैं कि राम की अनुरूप चरितावली वर्णन की जाय, इतने ही में क्या देखते हैं कि किसी व्याध ने पक्षियों के एक रतासक्त युगल में से नर-पक्षी को अपने तीर का शिकार बना डाला। इस करुण दृश्य को देख कर वाल्मीकि का हृदय उमड़ आता है। वे अपने स्वाभाविक उद्गार में खेद प्रकट करते हुए व्याध को शाप देते हैं तो उन के मुख से कोई साधारण शब्द नहीं किन्तु श्रुतिसुखद कविता-स्रोत स्रवित होने लगता है—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥"

विचारप्रवाह में तल्लीन हो कर जब वे अपनी कुटी की ओर जाते हैं, तो ब्रह्मा उन के सन्मुख आ कर कहते हैं कि तुम ने जिन शब्दों में अपने उद्गारों को व्यक्त किया है उन से 'श्लोक' छन्द

को जन्म मिला है। अब तुम श्लोकों में राम के चरित का वर्णन करो। इस कथा में कुछ ऐतिहासिक महत्त्व भी प्रतीत होता है, क्योंकि इस से सम्भवतः यह सूचना मिलती है कि श्लोक का लौकिक स्वरूप सब से पहिले बाल्मीकि ने निश्चित किया था।

रामायण में उस की अविनाशिनी कीर्ति के विषय में यह पद्य पाया जाता है—

"यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥"

यह भविष्यवाणी कवि के मुख से यथार्थ ही निकलती है। रामायण के समान लोकप्रिय रचना भारतवर्ष में अभी तक कोई देखने में नहीं आई है। उस की कथा से कितने ही कवियों की प्रतिभाशक्ति स्फुरित हुई। उस के श्रवण से आज भी सहस्रों हृदय आनन्द के समुद्र में हिलोरें लेने लगते हैं। सब भारतीय भाषाओं में उस का अनुवाद हो चुका है। वाल्मीकि-कोकिल की कल कूजन को सुन कर तुलसीदास के हृदय में रामचरित-मानस की रचना करने की प्रेरणा उत्पन्न हुई जिस के कारण वे भी अपने विमल यशशशी से सहस्रों हिन्दू घरों को उजागर कर रहे हैं।

रामायण की शैली

"जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत्।"

स्वनामधन्य श्रीवाल्मीकि के संसार में अवतरने पर 'कवि' शब्द का आविर्भाव हुआ।

'कवि बनते नहीं, पैदा होते हैं' यह बात श्रीवाल्मीकि के विषय में पूर्णतया चारितार्थ होती है । वे अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न और वश्यवाक् थे। कविता-कामिनी ने उन के नैसर्गिक गुणों पर मुग्ध हो कर मानो स्वयं उन्हें वरण किया। सरस्वती एक पतिपरायणा साध्वी स्त्री की भाँति शुद्ध हृदय से उन की उपासना करने लगी। वास्तविक कविता एक विशाल संवेदनात्मक हृदय का उद्गार है, प्राणिमात्र के दुःख से संक्षुब्ध हुए चित्त का उच्छ्वास और विश्वजनीन आनन्द से उमड़े हुए हृदय की नैसर्गिक भाषा है। वाल्मीकि का हृदय ऐसा ही था। वे तीर से तड़पते हुए एक क्रौंचपक्षी को देखते हैं तो उन की दुःखभरी भारती कविता के रूप में करुणक्रन्दन करने लगती है, सीता देवी के दुःखों का स्मरण हो आने से उन का हृदय द्रवीभूत होता है तो उस से अक्षय कविता-स्रोत बह कर भारत-भूमि को कृतकृत्य कर देता है।

वाल्मीकि ने अपनी भारती को अलंकृत किया है किन्तु आयासपूर्वक नहीं, कृत्रिमता के पर्दे में छिपाने के लिए नहीं,—ऐसा तो वह करे जिस की वाणी में स्वाभाविक सौन्दर्य न हो। यहाँ तो—

"इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि !"—

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा जैसे सरल और स्वभाव-सुन्दर अलङ्कारों से ही रामायण की नैसर्गिक छटा अधिक मनोज्ञ, अधिक चित्ताकर्षक, बन जाती है। इन थोड़े से ही अलङ्कारों के द्वारा कवि ने कथा के सौष्ठव को इस प्रकार चमत्कृत किया

है कि हृदय, पढ़ते पढ़ते, तल्लीन हो जाता है, रसास्वाद में हिलोरें लेने लगता है। उन की उपमाएं अत्यन्त उपयुक्त और हृदयङ्गम हैं—

'नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो वर्तते रथः ।'

विना तन्त्री के वीणा नहीं बजती, न विना पहिए का रथ ही चल सकता है ।

अर्थान्तरन्यास का एक उदाहरण देखिए। पम्पासरोवर से जाते हुए रामचन्द्र कहते हैं—लक्ष्मण, देखो यह बगला कितना धार्मिक है, प्राणि-हिंसा की आशंका से ज़मीन पर कैसे आहिस्ते आहिस्ते पैर रख रहा है ! लक्ष्मण, उत्तर देते हैं, महाराज, आप को इस की धूर्तता का क्या पता—*सहवासी विजानीयाच्चरित्रं सहवासिनः ।* सहवासी ही साथी के चरित्र को जानता है।

बाल्मीकि केवल आख्यान के ही नहीं किन्तु वस्तु-वर्णन के भी अप्रतिम आचार्य हैं। उन का हेमन्त-वर्णन एक अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। उन की पर्यवेक्षणशक्ति उत्तरकालीन विश्रुत कवियों की ही जैसी सूक्ष्म और वस्तु-चित्रण उन्हीं का जैसा सजीव और हृदयंगम है । भाषा अति सरल, धारावाहिनी और चित्ताकर्षक है। उत्तरकालीन क्लिष्ट कल्पना-प्रपञ्च से वह सर्वथा मुक्त है। कितने ही स्थल अत्यन्त सारगर्भित हैं । उदाहरणार्थ—*"हृदयं ह्येव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्"*—पारस्परिक प्रेम को हृदय ही जानता है ।

वाल्मीकि पद्धति के भी अप्रतिम आचार्य हैं। उन का आदि कवि होना सर्वथा सार्थक है। उन का पद्यबन्ध व्यास के पद्यबन्ध से कहीं अधिक परिष्कृत है। यद्यपि उन की शैली आख्यान एवं वस्तुवर्णन दोनों ही में सुसम्पन्न है तथापि किसी भी स्थल से यह नहीं झलकता कि कवि ने जान बूझ कर कहीं किसी प्रकार की क्लिष्ट कल्पना के लिए प्रयास किया हो।

चरित्रचित्रण के विषय में तो कहना ही क्या है। वाल्मीकि ने उन स्पृहणीय आदर्शों की सृष्टि की है जो हिन्दू-जाति के सदैव के लिए आराध्य बन गए हैं। रामायणीय विषय इतना लोक-प्रिय हो गया है कि कवि और नाटककारों ने समय समय पर उस को समलङ्कृत करने का प्रयास किया है। भास, कालिदास, भवभूति, मुरारि, भट्टी, राजशेखर, क्षेमेन्द्र आदि संस्कृत कवियों की प्रतिभा-शक्ति को सीधे वाल्मीकि ही से उद्बोधन मिला है। हिन्दी के विश्रुत कवि तुलसीदास को भी उसी महान् ज्योति से प्रकाश मिला है। भारत के प्राचीन कवियों में शायद ही कोई होगा जिस पर वाल्मीकि के विश्व-व्यापी प्रभाव की कुछ न कुछ छिटक न पड़ी हो—प्रत्यक्ष रूप से न तो अप्रत्यक्ष से ही सही।

रामायणीय कथा की लोकप्रियता के कारण ही जैन और बौद्ध धर्मानुयायियों को भी उसे अपने उपयोगी बनाने के लिए विवश होना पड़ा। हिन्दुओं के सुदूरवर्ती उपनिवेश जावा में भी यह कथा मनुष्यों के हृदयों को आकर्षित करती रही है और अब भी लोक-प्रिय है। यहाँ रामायणीय दृश्य प्रतिमा-शिल्प के द्वारा प्रदर्शित किए गये और इस कारीगरी के जो नमूने इस समय वहाँ विद्यमान हैं वे कला के अप्रतिम प्रत्यादर्शों में समझे जाते हैं।

महाकाव्य

मैक्समूलर की संस्कृत-का-पुनरुद्धार विषयक उपपत्ति

मैक्स मूलर का कथन है कि (१) सन ईस्वी के ४०० वर्ष पूर्व बौद्ध धर्म के अभ्युदय से ले कर सन ईस्वी की चौथी शताब्दी में गुप्त-साम्राज्य की स्थापना होने तक संस्कृत भाषा सुप्तावस्था को प्राप्त हो गई, और शक तथा अन्यान्य विदेशियों के आक्रमणों के कारण सन ई० की पहिली और दूसरी शताब्दियों में भारतवासियों ने साहित्यिक कर्मण्यता को तिलाञ्जलि दे दी, (२) अथ च उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य ने शक लोगों को भारतवर्ष से खदेड़ कर बाहर किया और कोरूर की लड़ाई में विजय पाने के स्मारक में सन ५४४ ई० में विक्रम सम्वत को स्थापित किया जिस का आरम्भ-काल ६०० वर्ष पूर्व अर्थात् ईस्वी सन से ५७ वर्ष पहिले कल्पित किया गया; इस राजा का राजयत्व-काल उन के अनुसार संस्कृत महाकाव्य का अत्यन्त समृद्धिशाली समय था।

मैक्समूलर की उक्त उपपत्ति का निम्नलिखित ढँग पर निराकरण किया गया है—

पतञ्जलि ने, जो सन ईस्वी के पूर्व दूसरी शताब्दी में विद्यमान थे, अपने महाभाष्य में कुछ पद्य उद्धृत किए हैं जो काव्यशैली में लिखे हुए हैं, जिस से यह सिद्ध होता है कि

उन के समय में काव्यशैली प्रचलित थी और ईस्वी सन से पूर्व ही वह विकसित हो चुकी थी।

अश्वघोष का बुद्धचरित, जो काव्यशैली में लिखा गया है, सन ४१४ और ४२१ के बीच चीनी भाषा में अनूदित किया गया था। बौद्ध परम्परा के अनुसार अश्वघोष कनिष्क का समकालीन था, अतएव वह सन ईस्वी की पहिली या दूसरी शताब्दी में विद्यमान रहा होगा। बौद्धधर्मानुयायी हो कर भी उस ने ब्राह्मणों की काव्यशैली का अनुसरण किया, जिस से यह सूचित होता है कि काव्यशैली सन ४०० ई० से बहुत पहिले लोकप्रिय हो चुकी होगी।

दूसरी शताब्दी के दो पर्याप्त विस्तार के साहित्यिक गद्यमय शिलालेख उपलब्ध हैं—एक गिरिनार और दूसरा नासिक से, जिन से यह प्रकट होता है कि उस समय भी एक गद्यमयी काव्यशैली विद्यमान थी जो आख्यायिका और कथाओं की शैली से मिलती जुलती है। गिरिनार के शिलालेख से मालूम होता है कि उस का रचयिता अलंकारशास्त्र से परिचित था और उस के समय वैदर्भी रीति में छन्दोबद्ध रचना होती थी। काव्यशैली दूसरी शताब्दी में अकस्मात् आविष्कृत हुई हो, यह सम्भव नहीं। निःसन्देह उस को विकास की सुदीर्घ अवस्था पार करनी पड़ी होगी। अतएव यह मानना सर्वथा समुचित है कि काव्यशैली का आविर्भाव सन ईस्वी के आरम्भ होने से पहिले ही हो चुका था और आगामी शताब्दियों में निरन्तर उस का अभ्यास होता रहा।

शक लोगों की राजसीमाएँ पंजाब, सिन्ध, राजपूताना, गुजरात और मध्यभारत—केवल भारतवर्ष के पश्चमांश—तक ही परिमित थीं, अतएव सम्पूर्ण भारतवर्ष पर उन का इतना प्रबल प्रभाव होना किसी तरह सम्भव नहीं। इस के अतिरिक्त विजेता थोड़े ही समय में भारतीयता के रङ्ग में रंगे जाने लगे और भारतीय ज्ञान विज्ञान वास्तुविद्या और तक्षण-कला में उन्हों ने भारतवासियों को प्रोत्साहना दी।

मैक्समूलर की दूसरी दलील निम्नलिखित प्रमाणों के कारण मान्य नहीं—

मिस्टर फ्लीट (Fleet) की पुरातत्त्वसम्बन्धी खोज से सिद्ध होता है कि सन ईस्वी के ५७ वर्ष पूर्व का विक्रम-सम्वत् ५४४ ई० में स्थापित नहीं हुआ, प्रत्युत मालव सम्वत् के नाम से दो सौ वर्ष पहिले से प्रचलित था जो सन ८०० ई० के लगभग विक्रम सम्वत् के नाम से कहा जाने लगा।

शक लोग छठी शताब्दी के मध्य में पश्चिमी भारत से खदेड़े गए हों, यह सम्भव नहीं जान पड़ता, क्योंकि उक्त प्रदेश सौ वर्ष से भी अधिक पहिले ही गुप्तवंशीय राजाओं के आधिपत्य में आ चुका था।

कुछ विदेशी, जिन्हें हूण कहते थे, वस्तुतः छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में पश्चिमी भारत से बाहर निकाले गए थे परन्तु उन्हें निकालने वाला विक्रमादित्य नहीं प्रत्युत यशोधर्मन् नाम का राजा था।

सन ईस्वी की पहिली पाँच शताब्दियों में काव्यशैली के सम्पन्नावस्था में रहने के निम्नलिखित प्रमाण हैं ।

हरिषेन की अपने आश्रयदाता समुद्रगुप्तविषयक प्रशस्ति, जो चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखी गई थी, कालिदास और दण्डी की प्रतिस्पर्धिनी काव्यशैली की परम्परा को सूचित करती है । चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी द्वितीय चन्द्र-गुप्त के मन्त्री वीरसेन ने भी इसी शैली में अपने स्वामी की प्रशस्ति लिखी है । वत्सभट्टि कवि का ४७३ ई० का मन्दसोर शिलालेख जो दशपुर में सूर्य के मन्दिर के स्मारक में लिखा गया था और ४४ पद्यों में समाप्त हुआ है, इस बात को सिद्ध करता है कि पाँचवीं शताब्दी में सुसम्पन्न काव्यसाहित्य विद्यमान रहा होगा ।

———

अश्वघोष का बुद्धचरित

बुद्धचरित अश्वघोष की उदात्त और रमणीय रचना है। सत्रह सर्गों में भगवान् बुद्ध की दिव्य चरितावली का वर्णन कर के यह सुन्दर महाकाव्य समाप्त हुआ है। प्रथम सर्ग में बुद्ध के जन्म लेने (*भगवत्प्रसूतिः*) की कथा है। कपिलवस्तु नामी निखिलसमृद्धिसम्पन्न राजधानी में सौम्यस्वभाव शाक्येन्द्र-राज श्रीशुद्धोदन राज्य करते थे। उन के शासन से प्रजा अपने आप को धन्य समझती थी। अनेक उदार स्वभाव वाले नीतिनिपुण विद्वान् उन को राजकार्य में मन्त्रणा दिया करते थे। राजमहिषी माया देवी अति रूपवती और स्वभाव ही से लोकहित में अनुरक्त थी। बड़ों के प्रति उस की जो आस्था थी उस से यही प्रतीत होता था कि मानो साक्षात् भक्ति ने अवतार धारण किया हो। कर्तव्य धर्म ने अपनी सूक्ष्म प्रकृति को छोड़ कर शरीरिणी मूर्त्ति धारण की—उत्तम बोधि-सत्त्व ने संसार के दुःखों को दूर करने के अभिप्राय से (*जगद्व्यसनक्षयाय*) तुषित स्वर्ग से उतर कर मायादेवी की कुक्षि में प्रवेश किया। शुभ नक्षत्र और शुभ मुहूर्त्त में राजकुमार का जन्म हुआ। स्वर्ग में देवता लोग आनन्द मनाने लगे। राजा और प्रजा के हर्ष का तो कहना ही क्या? जड़ प्रकृति भी प्रमोद से भर गई। चारों ओर शुभ शकुन नज़र आने लगे। राज्यश्री और प्रजा के अभ्युदय की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। राजप्रासाद में चहल पहल मच गई। मङ्गल-शंसी गीत वाद्य से कपिल-वस्तु का अन्तरिक्ष गूंज उठा। ब्राह्मणों ने राजा को कुमार के

अलौकिक गुणों का परिचय दिया। महर्षि असित को जब अपने तपोबल से भगवान् बुद्ध के पैदा होने की खबर लगी तो वे दौड़ते हुए राजभवन में पहुँचे। राजकुमार को देख कर उन की आँखें डबडबाने लगीं। राजा ने समझा, कुछ दाल में काला है। अधीर होकर पूछने लगे—भगवन्, राजकुमार दीर्घायु तो है न ? आप क्यों अश्रुपात करते हैं ? महर्षि ने उत्तर दिया, महाराज भगवान् की कृपा से सब कुछ अच्छा है—

"नास्यान्यथात्वं प्रति विक्रिया मे
स्वां वञ्चनां तु प्रति विक्लवोऽस्मि ।
कालो हि मे यातुमयं च जातो
जातिक्षयस्यासुलभस्य बोद्धा ॥"

मैं विह्वल इस लिए नहीं हुआ हूँ कि मेरे मन में कोई अनिष्ट की आशंका हुई हो किन्तु मुझे अपनी निराशा पर दुःख है; मोक्ष का मार्ग दिखाने वाला यह बालक अब पैदा हुआ है, जब मेरे जीवन के दिन पूरे हो गए हैं।

"विहाय राज्यं विषयेष्वनास्थ-
स्तीव्रैः प्रयत्नैरधिगम्य तत्त्वम् ।
जगत्ययं मोहतमो निहन्तुं
ज्वलिष्यति ज्ञानमयो हि सूर्यः ॥"

राजपाट को तिलाञ्जलि दे कर, विषयसुखों की अवहेलना कर के, उग्र तपश्चर्या के द्वारा वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर के,

यह ज्ञानरूपी सूर्य मोहान्धकार को नष्ट करने के लिए देदीप्यमान होगा।

दूसरे सर्ग में राजकुमार का नामकरण होता है। उस के शुभ जन्म से सम्पूर्ण सिद्धियां कपिलवस्तु में आ कर रहने लगी थीं। इसी से उस का नाम सर्वार्थसिद्ध रखा गया। मायादेवी स्वर्ग को सिधारती हैं। बालक सर्वार्थसिद्ध राजश्री की गोद में पल कर बड़ा होता है। छोटी ही अवस्था में वह अपने कुलानुरूप सभी विद्याओं को समाप्त कर लेता है। उचित समय पर राजकुमारी यशोधरा से उस का विवाह होता है। राजा ने सुखोपभोग की सभी चीज़ें उन के लिए उपस्थित कर दी हैं। उन्हें इस बात का खटका है कि कहीं महर्षि असित के कथनानुसार राजकुमार विरक्त न हो जाय। कुछ काल तक सुख से दिन बीतते हैं, सर्वार्थसिद्ध के चौबीसों घंटे विलासिता में कटते हैं। यशोधरा से उन का राहुल नाम का एक पुत्र भी उत्पन्न होता है।

किन्तु सूर्य के प्रखर तेज को बादल कब तक ढक कर रख सकते हैं। क्षणभंगुर तुच्छ विषय-सुख एक भव्य आत्मा को कब तक दबाए हुए रख सकते हैं? तीसरे सर्ग में राजा की अनुमति ले कर सर्वार्थसिद्ध बाहर घूमने निकलते हैं। सड़कें सजवाई जाती हैं। राजा की ओर से यह घोषणा होती है कि जिस समय युवराज बाहर निकलें उस समय सारी प्रजा प्रसन्न-मुख रहे, किसी के मुख से कोई बात ऐसी न झलके जिस से दुःख अथवा उदासीनता प्रकट हो। सभी अच्छे

अच्छे वस्त्र पहिने रहें। व्याधि, वृद्धावस्था आदि से विकृत अंग वाला कोई मनुष्य सामने न आवे। किन्तु ईश्वरेच्छा बलीयसी। सर्वार्थसिद्ध रथ पर सवार हो कर थोड़ी ही दूर निकले थे कि उन को लट्ठी के सहारे खड़ा हुआ एक बूढ़ा मनुष्य दिखाई दिया। अन्य लोगों से पृथक् आकृति वाले उस मनुष्य को देख कर वे सारथी से पूछने लगे—इस की ऐसी हालत क्यों है—

"किं विक्रियैषा प्रकृतिर्यदृच्छा ?"

क्या यह इस का शारीरिक विकार है, या स्वभाव ही से यह ऐसा है, अथवा अकस्मात् यह ऐसा हुआ है ? शिर के सब बाल पक गए हैं। अंग प्रत्यंग शिथिल पड़ गए हैं। शरीर में शक्ति नहीं। सारथी ने उत्तर दिया, आयुष्मन्, एक दिन प्रत्येक शरीरधारी की ऐसी ही हालत होती है। वृद्धावस्था शरीर का धर्म है। यह सुन कर सर्वार्थसिद्ध खिन्न हो कर राज-भवन को लौटे। दूसरी बार बाहर निकलने में उन्हें 'हा अम्ब-हाय माँ!' चिल्लाता हुआ एक व्याधि-ग्रस्त मनुष्य और तीसरी बार श्मशान की ओर लिवाया जाता हुआ एक मृतक शरीर दिखाई देता है। मनुष्य की मरणशीलता से उन को पूर्ण विरक्ति हो जाती है। विषादभरे वचनों में कहते हैं—

"इयं च निष्ठा नियतं प्रजानां प्रमाद्यति त्यक्तभयश्च लोकः।
मनांसि शंके कठिनानि नृणां स्वस्थास्तथा ह्यध्वनि वर्तमानाः ॥"

यह है मनुष्य जीवन का अवश्यंभावी परिणाम! इस पर भी लोग निर्भयता से विषयवासनाओं में आसक्त रहते हैं।

मालूम होता है कि मनुष्यों के हृदय बड़े सख्त होते हैं, जो ऐसे मार्ग पर चलते हुए भी संक्षुब्ध नहीं होते। आधे ही रास्ते से वे लौटना चाहते हैं किन्तु इस वार राजा के कठिन शासन के कारण सारथी उन को ज़बरदस्ती पद्मखण्ड वन में पहुँचाता है।

चौथे सर्ग में संविग्नमानस सर्वार्थसिद्ध इस रमणीय वन में पहुँच कर उस की रूपश्री को निहारते हैं। स्वर्ग की अप्सराओं को भी मात करने वाली रमणियां उन का स्वागत करने निकलती हैं किन्तु—

"न व्याजह्रुर्न न जहसुः प्रभावेणास्य यन्त्रिताः।"

उन के प्रभाव से अभिभूत हो कर न बोलती हैं और न मुसकराती ही हैं! आत्मतेज के सामने तुच्छ कामलिप्सा मुरझा जाती है, शरमा कर मुँह छिपा लेती है। इस विचित्र विडम्बना को देख कर युवराज सर्वार्थसिद्ध का सखा उदायी उन राजरमणियों को उत्तेजना देता है कि अपने स्त्रीजनोचित हावों से युवराज के मन को मुग्ध करें। किन्तु एक प्रबुद्ध हृदय पर रमणी के कटाक्षों का असर ही कितना? उदायी ने देखा, ये युवतियां उन के मोहने में निष्फल हो गई है, अतएव राजकुमार को ही सुखोपभोग का उपदेश करने लगा—पौराणिक कथाओं को सुना कर उन को विषयों में आसक्त होने का मन्त्र सिखाने लगा, किन्तु सब निष्फल। राजकुमार के घर लौटने पर जब सब समाचार राजा को विदित हुआ तो उन के कानों में फिर से महर्षि असित के वचन गूंजने लगे—

"विहाय राज्यं विषयेष्वनास्थस्तीव्रैः प्रयत्नैरधिगम्य तत्त्वम् ।
जगत्ययं मोहतमो निहन्तुं ज्वलिष्यति ज्ञानमयो हि सूर्यः ॥"

रात भर उन्हें नींद न आई ।

पाँचवें सर्ग में युवराज सर्वार्थसिद्ध के 'अभिनिष्क्रमण' का वर्णन है । मन्त्रिपुत्रों के साथ वे वन की सैर को निकलते हैं । वहाँ प्राणियों के दुःखों से द्रवीभूत हो कर, सब को छोड़ कर एकान्त में संसार की असारता पर सोचने लगते हैं । घर आ कर राजा से सन्यासी होने की आज्ञा मांगना चाहते हैं । राजा भला ऐसी आज्ञा कब दे सकता था ? अब तो राजकुमार के भवन पर और भी कड़ा पहरा डाल दिया गया । विषयोपभोग के साधन बढ़ा दिए गए । किन्तु सर्वार्थसिद्ध एक दिन आधी रात को स्वर्ग के समान सुन्दर अन्तःपुर को, पतिपरायणा यशोधरा और पुत्र राहुल को छोड़ कर, क्षण भर में सारे सांसारिक बन्धनों को तोड़ कर, छन्दक नामी तुरगानुचर के साथ अपने कंथक घोड़े पर वन को प्रयाण करते हैं । स्थान स्थान पर रास्तों के फाटक अपने आप खुल जाते हैं ! पहरे वालों को कुछ पता ही नहीं चलता । रात्रि के निबिड अन्धकार को विशीर्ण करता हुआ, राजकुमार को मार्ग दिखाने के लिए स्वर्ग से एक अपूर्व प्रकाश प्रादुर्भूत होता है । इस प्रकार रातों रात कई योजन की यात्रा समाप्त होती है ।

छठे सर्ग में, रात खुलते खुलते वे भार्गव के आश्रम में पहुँचते हैं । सर्वार्थसिद्धि छन्दक की अनन्यसाधारण भक्ति और क्षमता की सराहना करते हुए और सांसारिक सम्बन्ध

की निःसारता प्रदर्शित करते हुए किसी तरह उसे यह सन्देश दे कर वापिस भेजते हैं—

जरामरणनाशार्थं प्रविष्टोऽस्मि तपोवनम् ।
न खलु स्वर्गतर्षेण नास्नेहेन न मन्युना ॥

कि मैं बुढ़ापे और मृत्यु का नाश करने के लिए वन को निकला हूँ, स्वर्ग के अभिलाष, स्नेहाभाव अथवा क्रोध से नहीं। वहीं केशों को काट कर और एक व्याधवेशधारी देवता से अपने राजसी वस्त्रों को बदल कर स्वयं वल्कलवस्त्र धारण करते हैं। छन्दक रोता, विलखता, गिरता हुआ, शोकाभिभूत अवस्था में, कन्थक को ले कर कपिलवस्तु को लौटता है।

सातवें सर्ग में हम सर्वार्थसिद्ध को तपोवन में देखते हैं। उन के शुभ आगमन से सारा आश्रम आनन्द से आप्लावित हो जाता है। वहाँ वे ऋषियों को तपश्चर्या करते हुए देखते हैं किन्तु इस से उन के आत्मा की तृप्ति नहीं होती। वे सोचते हैं—

दुःखात्मकं नैकविधं तपश्च स्वर्गप्रधानं तपसः फलं च ।
लोकाश्च सर्वे परिणामवन्तः स्वल्पे श्रमः खल्वयमाश्रमाणाम् ॥

तप बहुविध और अत्यन्त कष्टसाध्य है और उस का अधिक से अधिक फल स्वर्गप्राप्ति, किन्तु स्वर्ग का जीवन भी तो परिवर्तनशील है, फिर इतनी छोटी सी बात के लिए आश्रम का इतना आयास सहने से क्या लाभ ? मुझे परिणामशील स्वर्ग नहीं चाहिए। मेरा आत्मा तो उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए

आकुल हो रहा है जिस से जन्म मरण के दुःखों से छुटकारा हो। आखिर वहाँ से विंध्यकोष्ठ में अराड मुनि के पास चलने का निश्चय होता है।

आठवें सर्ग में अन्तःपुर के विलाप का वर्णन है। स्त्रियां करुण रुदन कर रही हैं, विह्वल हो कर छाती पीटती हैं, बेसुध हो कर फर्श पर गिरती हैं। यशोधरा छन्दक को विषण्णावस्था मे देख कर कहती है—

"अनार्यमस्निग्धममित्रकर्म मे नृशंस कृत्वा किमिहाद्य रोदिषि ।
नियच्छ बाष्पं भव तुष्टमानसो न संवदत्यश्रु च तच्च कर्म ते ॥"

ऐ नृशंस ! मेरे साथ ऐसा गर्हित शत्रुजनोचित दारुण कर्म कर के अब रोता क्यों है ? अपने आँसुओं को रोक और अपने हृदय को प्रफुल्लित कर ले। कहाँ यह अश्रुपात और कहाँ तेरा वह कर्म ! तेरा यह रोना शोभा नहीं देता। नई रानी गौतमी एवं राजा दोनों ही अगाध शोकसागर में डूबे हुए हैं। राजपुरोहित आ कर उन्हें सान्त्वना देने का प्रयत्न करता है। अन्त में राजाज्ञा से पुरोहित और मन्त्री युवराज को ढूँढ़ने निकलते हैं।

नवें सर्ग में पुरोहित और मन्त्री भार्गव के आश्रम से होते हुए राजकुमार के पास पहुँचते हैं। युक्ति से, कर्तव्यधर्म का तत्त्व समझा कर, पिता, पुत्र और स्त्री के प्रति प्रेम का स्मरण दिला कर, प्राक्तन राजाओं के उदाहरण दे कर, वे उन से राज-महल में लौट आने का आग्रह करते हैं। किन्तु पुण्यात्मा

सर्वार्थसिद्ध अपने लक्ष्य से च्युत कब हो सकते थे ? समझा बुझा कर वे राजमन्त्री और राजपुरोहित को वहाँ से विदा करते हैं।

दसवें सर्ग में राजकुमार सर्वार्थसिद्ध गंगा नदी को पार कर राजगृह में पधारते हैं। मगधराज श्रेण्य से उन की भेंट होती है। श्रेण्य उन से कहता है—यदि तुम ने अपनी उदारता के कारण राज्य अपने पिता के लिए छोड़ दिया है तो मैं तुम्हें अपना आधा राज्य देता हूँ। यह पसंद न हो तो मेरे साथ चलो और अपने विक्रम से कोई नया राज्य प्राप्त करो। यह अवस्था तपस्या करने की नहीं। और यदि धार्मिक ही बनना है तो कुल-परम्परा के अनुसार यज्ञ, व्रत आदि करो। राजकुमार ने ये सभी बातें सुनीं किन्तु वे अपने निश्चित पथ से विचलित नहीं हुए। ग्यारहवें सर्ग में राजकुमार राजा श्रेण्य की बातों का उत्तर देते हुए सुखोपभोग की निःसारता को प्रदर्शित करता है। यज्ञ आदि में पशुओं को मार कर भावी सुख की इच्छा करना भी मनुष्योचित कर्म नहीं।

बारहवें सर्ग में वे अराड के आश्रम में पहुँच कर उस से दार्शनिक विचारों को सुनते हैं किन्तु वहाँ भी मन की तृप्ति नहीं होती। फिर उद्रक के पास जाते हैं परन्तु वहाँ भी वही अड़चन, वही आत्मा की नित्यता का बखेड़ा। यदि आत्मा का अस्तित्व हमेशा बना रहता है तो मुक्ति कैसे ? आत्मा रहेगा तो उस के गुण भी रहेंगे, अहंकार भी साथ रहेगा, जन्म

मरण और सुख दुःख से फिर मुक्ति कैसे ? इस के बाद गय के आश्रम में पहुँच कर छः वर्ष तक उग्र तपस्या कर के अपने शरीर को सुखाते हैं किन्तु इस से भी कुछ नहीं । अन्त में सोचते हैं, इस तरह शरीर क्षीण करने से कुछ न होगा। नैरञ्जना नदी से स्नान कर के निकलते हैं तो इतने में नन्दबाला नाम की एक गोपबाला वहाँ आ कर उन्हें दूध पीने को देती है। दूध पी कर वे एक पीपल के नीचे समाधि लगाते हैं और यह निश्चय कर लेते हैं कि जब तक तत्त्वज्ञान प्राप्त न होगा यहाँ से उठूँगा नहीं। उन के साथी तपस्वी यह जान कर कि अब ये शारीरिक तपस्या नहीं करेंगे उन्हें छोड़ कर चले जाते हैं।

तेरहवें सर्ग में विषयवासना पर पूर्ण विजय पाने का सुन्दर काव्यमय वर्णन है। कामदेव उदासीन हो कर बैठा है। उस के पुत्र विभ्रम, हर्ष और दर्प, और उस की पुत्रियां रति, प्रीति और तृषा उस की उदासीनता का कारण पूछती हैं। वह उत्तर देता है, सामने समाधि में बैठा हुआ राजकुमार तत्त्वज्ञान से मेरी सत्ता मिटाना चाहता है, यही मेरी उदासीनता का कारण है। फिर वह धनुष वाण सजा कर निकट जाता है, प्रलोभन से वाण फेंक कर समाधि भंग करना चाहता है परन्तु कुछ नहीं बनता। उस की राक्षसी सेना भी भयावह प्रयत्न कर के थक जाती है। अन्त में आकाशवाणी होती है—

"मोघं श्रमं नार्हसि मार कर्तुं हिंस्रात्मतामुत्सृज गच्छ शर्म ।
नैष त्वया कम्पयितुं हि शक्यो महागिरिर्मेरुरिवानिलेन ॥"

हे कामदेव, व्यर्थ आयास न करो, इस हिंसात्मक बुद्धि को छोड़ो, जाओ शान्ति करो। मेरु पर्वत जिस प्रकार वायु के वेग से हिल नहीं सकता, उसी तरह इस को विचलित करना असम्भव है। कामदेव निराश हो कर वहाँ से चलता है। प्रकृति फिर से सौम्यमूर्ति धारण कर लेती है।

चौदहवें सर्ग में राजकुमार सर्वार्थसिद्ध को प्रबोधन होता है। रात्रि के प्रथम पहर में उन्हें अपने सब पिछले जन्म याद आते हैं। दूसरे पहर में उन को दिव्य दृष्टि मिलती है जिस से वे विश्व की यथार्थता को जान लेते हैं। आखिर विचार करने पर उन्हें मालूम होता है कि अज्ञान ही सब दुःखों का मूल है। इस प्रकार सात दिन तक उस पीपल के (बोधि) वृक्ष के नीचे रह कर वे दिव्य शक्ति प्राप्त करते हैं। सम्पूर्ण विश्व आनन्द का आस्वादन करने लगता है।

पन्द्रहवें सर्ग में भगवान् बुद्ध का यह दृढ़ व्रत सुनने में आता है—जब तक इन अनन्त लोकों को पथप्रदर्शन न कर लूं, तब तक निर्वाणपद को स्वीकार नहीं करूंगा। अनेक प्रलोभनों को तिरस्कृत करते हुए और अनेक विस्मयावह अलौकिक कर्मों को करते हुए वे बनारस में पहुँचते हैं।

सोलहवें सर्ग में बौद्ध धर्म की संस्थापना का और अन्तिम सर्ग में लुंबिनी-उद्यान—जहाँ उन्होंने जन्म ग्रहण किया था—की यात्रा का वर्णन है।

अश्वघोष की शैली

जैसा कि प्रोफैसर कौवेल (Cowell) का कथन है, प्रस्तुत बुद्धचरित के अन्तिम तीन सर्ग और चौदहवें सर्ग

का कुछ अंश अश्वघोष की रचना नहीं है। इस अन्तिम भाग की शैलि पहिले तेरह सर्गों की शैली से बिल्कुल भिन्न है। अलङ्करण का इस में सर्वथा अभाव है और यत्र तत्र व्याकरण की भी अशुद्धियां दृष्टिगोचर होती हैं।

अश्वघोष की शैली प्रायः अपरिष्कृत और अपरिस्फुट है—कालिदास की जैसी चेतोहारिणी श्लक्ष्णता उस में नहीं है-किन्तु उस में नैसर्गिक ऊर्जस्विता और सौन्दर्य विद्यमान हैं। उस के वर्णन सर्वथा स्वाभाविक और प्रसंगोचित हैं। कितने ही प्रसंग और दृश्य ऐसे हैं जिन का आभास कालिदास की रचना पर पड़ा है अथवा जो रामायणीय कथाओं से मिलते जुलते हैं किन्तु जो बुद्धचरित में आनुषंगिक नहीं प्रत्युत नितान्त नैसर्गिक हैं।

अश्वघोष अलंकारशास्त्र से भलीभाँति परिचित था, यह बात भी बुद्धचरित से स्पष्ट ही है। केवल उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक जैसे सरल अलङ्कार ही नहीं प्रत्युत और भी बहुत से कठिन अलंकार बड़ी व्युत्पन्नता के साथ प्रदर्शित किए गए हैं।

कुमारसम्भव

कुमारसम्भव सत्रह सर्गों में समाप्त हुआ है। अन्तिम नौ सर्ग अश्लील शृङ्गार से इतने दूषित हैं और उन की रचना पूर्वांश की अपेक्षा इतनी अवर है कि उन को कालिदास की कृति मानने में सङ्कोच होता है। किसी पद या पदावली पर मुग्ध हो कर उस को फिर फिर लाना, प्रादि-समास का बाहुल्य, शिथिल बन्ध, प्रायः प्रत्येक पद के पहिले 'सु' को जोड़ देना, वाक्य को सजाने के लिए अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग, छन्द-सम्बन्धी विप्रतिपत्ति, आदि अनेक अवगुण हैं जिन से यह सूचित होता है कि यह अंश किसी उत्तरकालीन कवि की रचना है। यही कारण है कि मल्लिनाथ ने केवल पहिले आठ सर्गों पर ही टीका की है और आलङ्कारिकों की दृष्टि भी इसे आगे नहीं पड़ी। बहुत सी हस्तलिखित प्रतियों में आठवाँ सर्ग भी नहीं मिलता। सम्भव है, शृङ्गार की अतिशयता के कारण वह छोड़ दिया गया हो। किन्तु उस की शैली और भावसन्निवेश इस बात का साक्ष्य देते हैं कि कालिदास ही उस का रचयिता है। निःसन्देह इतने ही से 'कुमारसम्भव' पूरा नहीं हो जाता। उस का यह अधूरापन मन में खटकता है। कह नहीं सकते, कालिदास ने उसे क्यों इस तरह अधूरा ही छोड़ दिया। यहाँ पर उन का देहावसान हो गया हो, यह भी नहीं मान सकते। क्योंकि रघुवंश का कुमारसम्भव के बाद लिखा जाना ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

हिमालय के वर्णन से इस महाकाव्य का उपक्रम होता है गिरिराज देवतात्मा हिमालय का नैसर्गिक वैभव भलीभाँति कल्पना के रङ्ग में चित्रित किया गया है। वह अप्सराओं की क्रीड़ाभूमि और गन्धर्व, सिद्ध, किन्नर, किरात आदि के रहने का स्थान है— Reference

"वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥"

जहाँ दिव्य औषधियां दीपक का काम देती हैं। इसी परिस्थिति में—इसी यज्ञस्थली में—असाधारण रूपलावण्य से युक्त पर्वतराज-पुत्री पार्वती परिवर्धित होती है। नारद मुनि वहाँ आ कर कहते हैं कि शिव जी इस कन्या के पति होंगे। कुछ सयानी होकर पिता की अनुमति से वह समाधिस्थ महादेव जी की शुश्रूषा करने लगती है—उन के लिए पुष्प, जल, कुश आदि लाती है और वेदि का संमार्जन करती है।

दूसरे सर्ग में तारकासुर से तंग आ कर देवता लोग ब्रह्मा के पास पहुँचते हैं और उस से सहायता के लिए प्रार्थना करते हैं किन्तु अपने अनुग्रह का भाजन होने से वह स्वयं उस का विनाश नहीं कर सकता—

"विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।"

केवल एक उपाय है, शिव जी पार्वती से विवाह करें तो उन

का जो पुत्र पैदा होगा वह तारकासुर को मार सकता है। इस के लिए कामदेव की सहायता लेनी होगी।

तीसरे सर्ग में इन्द्र बड़े आदर से काम को अपने निकट बुलाता है। आज क्या ऐसी भीड़ पड़ी है; महाराज, आज्ञा कीजिए, अभी आप के प्रतिस्पर्धी का मान मर्दन किए देता हूँ—

"कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये !"

और धनुर्धारियों का तो कहना ही क्या ? आज्ञा हो तो पिनाक धनुष को धारण करने वाले महादेव जी के धैर्य को भी डिगा सकता हूं ! इन्द्र ने कहा यही करना होगा। अपने सखा ऋतुराज वसन्त और प्राणप्रिया रति को साथ ले कर कामदेव तपोवन को पधारता है। शिव जी की अखण्ड समाधि को देख कर वह दूर ही से सहम जाता है। धनुषबाण हाथ से छूट पड़ते हैं किन्तु पार्वती को देख कर उस को फिर से धीरज होता है। अवसर पा कर वह अपना संमोहन अस्त्र छोड़ना ही चाहता है कि शिव जी उसे जला कर क्षार कर देते हैं।

चौथे सर्ग में बिलखती हुई रति चिता में भस्मसात् होना चाहती है कि इतने में आकाशवाणी होती है—हे कामपत्नि, ऐसा दुःसाहस न करो। जब महादेव जी का विवाह होगा तो वे स्वयं ही तुम्हारे पति को पुनर्जीवित कर देंगे।

पाँचवें सर्ग में पार्वती की असाधारण तपश्चर्या का वर्णन है। एक जटाधारी ब्रह्मचारी आकर उस से सहानुभूति प्रकट करता है—तुम्हारी इस कष्ट-चर्य्या को देख कर कौन ऐसा

कठोर हृदय होगा जो दुःखी न होता हो, पर यह तो बताओ कि तुम्हें तप करने की यह क्या सूझी है—

"कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपःफलं स्यात्किमतः परं वद॥
दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः।
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्॥"

हिरण्यगर्भ के कुल में जन्म, त्रिलोक के सौन्दर्य से निर्मित मानो तुम्हारा यह शरीर, अनायास-प्राप्त ऐश्वर्य—सुख, उपभोग-क्षम यह नवयौवन, कहो इस से अधिक तप का फल और क्या हो सकता है? यदि स्वर्ग की चाहना है तो व्यर्थ ही कष्ट उठा रही हो। तुम्हारे पिता के प्रदेश क्या स्वर्ग से कुछ कम हैं? यदि योग्य वर पाने की अभिलाषा है तो छोड़ो इस समाधि को; रत्न भी कहीं किसी को ढूंढ़ता फिरता है! तुम्हारे उच्छ्वास से मालूम होता है कि किसी युवा के लिए तुम्हारा यह प्रयास है। निःसन्देह उस का हृदय बड़ा ही कठिन है।

"कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि विद्यते,
ममापि पूर्वाश्रमसञ्चितं तपः।
तदर्धभागेन लभस्व कांक्षितं,
वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम्॥"

हे गौरि, कब तक यह कष्ट सहन करोगी? मैं ने भी ब्रह्मचर्य्या-श्रम में तप सञ्चित किया है। उस के आधे से अपने अभीष्ट

को प्राप्त करो। परन्तु मुझ भी तो मालूम होना चाहिए कि जिस वर को तुम चाहती हो वह कैसा है। पार्वती सकुचा गई, कुछ बोल न सकी, केवल सहचरी की ओर दृष्टि फेर दी। सहचरी ने कहा हमारी सखी शिव जी के लिए तपस्या कर रही है। आह! शिव के लिए तपस्या करती है! शोचनीयासि पार्वति!

"निवर्तयास्मादसदीप्सितान्मनः,
क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा।
अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी,
श्मशानशूलस्य यूपसत्क्रिया॥"

इस दुरभिलाष से अपने मन को हटाओ। क्या श्मशानशूल के लिए भी कोई यज्ञस्तम्भोचित वैदिक क्रिया को करता है?

यह सुनकर पार्वती आपे से बाहर हो जाती है। वस्तुतः तू हर को नहीं जानता, जो मुझ से इस तरह की बातें कर रहा है। मूर्खों की यह चाल ही है, उन के मस्तिष्क में महात्माओं के चरित आ नहीं सकते। अतएव वे उन से द्वेष करने लगते हैं। बस, अब चुप करो; तुम्हारा शुष्क विवाद मेरे हृदय को दुखाता है।

"निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते श्रृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्॥"

हे सखि, यह ब्राह्मणाधम फिर कुछ बोलना चाहता है। इस के होंठ बलबला रहे हैं। इस को रोको। जो बड़ों की निन्दा करता केवल वही नहीं बल्कि उस का सुनने वाला भी पाप का भागी

होता है। पार्वती वहाँ से जाना चाहती है किन्तु अकस्मात् उस को क्या दीखता है कि जिस से वह रुष्ट हुई थी वह साक्षात् उसी का प्राणेश्वर है। उस का हृदय गद्गद् हो जाता है। न तो वहाँ से जा सकती है और न वहाँ पर रुक ही सकती है; अजीब हालत हो रही है।

छठे सर्ग में अरुन्धती को साथ ले कर सप्तर्षि नियम पूर्वक हिमालय के पास पार्वती की याचना करने जाते हैं और अनुमति पा कर यह शुभ समाचार शिवजी को जा कर सुनाते हैं। सातवें सर्ग में विवाह का वर्णन और आठवें में पार्वती परमेश्वर का हासविलास प्रदर्शित किया गया है।

अन्तिम सर्गों में कुमार का जन्म (कुमार-सम्भव) और तारकासुरवध प्रधान घटनायें हैं।

आनन्दवर्धनाचार्य्य अपने ध्वन्यालोक में लिखते हैं कि देवताओं के प्रेम का चित्रण करना यों तो अश्लीलता में शामिल है किन्तु प्रतिभाशाली कवि के हाथ में पड़ कर वह चित्त पर खटकता नहीं है। कालिदास की दृष्टि में इस दिव्य दम्पती का प्रेम निरी गल्प नहीं है। वह एक वास्तविक सत्ता है जिस का फलस्वरूप एक विश्वजनीन देव का प्रादुर्भाव है। और इस दिव्य दम्पती का प्रेम उस प्रेम का प्रत्यादर्श है जो संसार में पति पत्नी के बीच होना चाहिए। ध्वनि काव्य का जीवन है। मेघदूत के अतिमानुषिक प्रेम की वर्णना की भाँति कुमारसम्भव के दिव्य प्रेम के चित्रण से लौकिक प्रेम ध्वनित होता है। इस दृष्टि से अनुशीलन करने पर कुमारसम्भव की हृदयंगमता

और भी चमत्कृत हो जाती है और हम प्रकृति के प्रति कवि की विस्मयावह भावना और मानव हृदय के उद्गारों को चित्रण करने की क्षमता का सानन्द अनुभव कर सकते हैं।

रघुवंश

रघुवंश कालिदास के काव्यों में अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट रचना है। इस का कथाभाग वाल्मीकिरामायण और पुराणों से लिया गया है। कथा संक्षेप से इस प्रकार है—

वैवस्वत मनु के विमल वंश में राजर्षि दिलीप बड़े प्रतापी और सम्पूर्ण श्लाघ्य गुणों से सम्पन्न थे। राजमहिषी सुदक्षिणा भी उन्हीं के समान उदार-चरिता थी। उन्हें दुःख था तो केवल सन्तान न होने का। आखिर राज्यभार को मन्त्रियों के ऊपर छोड़ कर रानी को साथ ले राजा कुल-गुरु वसिष्ठ के आश्रम में पहुँचते हैं। महर्षि वसिष्ठ ध्यानावस्थितचित्त हो कर उन को सन्तान के प्रतिबन्ध का कारण बतलाते हैं—इन्द्र के यहाँ से वापिस आते समय तुम कल्प-वृक्ष के नीचे खड़ी हुई कामधेनु की प्रदक्षिणा करने में चूक गए, उसी का अभिशाप इस प्रतिबन्ध का कारण हुआ है। अनन्य-चित्त हो कर श्रद्धा और भक्ति के साथ उस की पुत्री नन्दिनी की सेवा करो तो यह शाप दूर हो सकता है।

दूसरे सर्ग में हम देखते हैं कि राजा नित्य प्रति नियम से नन्दिनी के पीछे पीछे वन में जा कर दत्तचित्त हो कर उस की शुश्रूषा करते हैं। एक दिन वह चरते चरते हिमालय की कन्दरा में प्रवेश करती है। अकस्मात् एक सिंह उस पर

टूट पड़ता है। दिलीप अपना शरीर दे कर उस की रक्षा करना चाहते हैं। यशःशरीर के सामने उन्हें अपना पञ्चभौतिक देह बहुत तुच्छ लगता है। सिंह के लिए उस को इस निरास्था के साथ समर्पण करते हैं मानो वह निरा मांस का पिण्ड हो। सहसा सिंह, जो कि महादेव जी का भृत्य था, अन्तर्हित हो जाता है, विद्याधर फूलों की वर्षा करते हैं, और नन्दिनी ख़ुश हो कर राजा को पुत्र प्राप्ति का वरदान देती है।

तीसरे सर्ग में रघु का जन्म, उस की शिक्षा दीक्षा, और अश्वमेध के घोड़े की रक्षा के लिए इन्द्र से युद्ध करने का वर्णन है। यद्यपि इन्द्र से घोड़े की रक्षा करना असम्भव है तथापि वह अपने असाधारण विक्रम के कारण सुरेश को प्रसन्न कर के उस से यह वर प्राप्त करता है कि दिलीप को उस के यज्ञ का पूरा फल मिले। अगले सर्ग में रघु के प्रताप और दिग्विजय का वर्णन किया गया है। उस की विजयशालिनी यात्रा का एक समुज्ज्वल चित्र उतारा गया है। जिन प्रदेशों में वह पदार्पण करता है, जिन जातियों पर विजय पाता है, जिन युद्धों में उस को जय-श्री मिलती है, उन सब का विचित्र वाग्मिता और ओजस्विता के साथ वर्णन किया गया है।

पाँचवें सर्ग में हमें रघु की उदारता और दानशीलता का परिचय मिलता है। वरतन्तुशिष्य कौत्स गुरु-दक्षिणा के लिए उस के पास याचना करने आता है किन्तु वहाँ आ कर उसे मालूम होता है कि रघु ने यज्ञ रच कर अपना सर्वस्व दान

कर दिया है। राजा को इस संकट से मुक्त करने के लिए कुबेर के यहाँ से सुवर्णमयी वृष्टि होती है। रघु का पुत्र अज अपने पिता ही के समान प्रतापी और महानुभाव है।

छठे सर्ग में विदर्भ देश की राजकुमारी अज के रूप और गुणों पर रीझ कर उस को अपना वर चुनती है। स्वयंवर में दिग्दिगन्तर के राजा आते हैं। प्रत्येक अपने गुणों के कारण स्पृहणीय है। अङ्गराज में परस्परविरोधिनी लक्ष्मी और सरस्वती एकत्र निवास करती हैं—वह स्पृहणीय न रहा हो यह बात नहीं, और न यह कि इन्दुमती सम्यक् विवेक करना न जानती हो। किन्तु अपनी अपनी रुचि है—

"नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा

भिन्नरुचिर्हि लोकः।"

आखिर जब प्रतिहाररक्षी सुनन्दा अज के वंश की विरदावली सुनाती है और उस को मालूम होता है कि वह राजकुमारी के हृदय में स्थान कर गया है तो वह परिहास-पूर्वक इन्दुमती को वहाँ से अन्यत्र चलने के लिए कहती है। किन्तु विदर्भ-राजकुमारी अपने प्रणयी को वरमाला पहिना कर अपने मनोबन्ध को अभिव्यक्त करती है। सातवें सर्ग में विवाह की धूमधाम, विदर्भ से लौटते समय मार्ग में अज के ऊपर प्रत्यादिष्ट राजाओं का आक्रमण और संमोहन अस्त्र के द्वारा उन के विजित होने का वर्णन है।

आठवें सर्ग में बड़े प्रभावोत्पादक ढँग पर अज के राज्यशासन का दिग्दर्शन कराया गया है। रघु

पारलौकिक कल्याण के लिए आरण्यक-व्रत धारण करता है और अज नूतन प्रदेशों को जीतने की तय्यारियां करने लगता है। किन्तु जिन पुण्यों के कारण उस को सुखोपभोग का अपूर्व संयोग प्राप्त हुआ था, वे क्षीण हो चले हैं। इन्दुमती के वक्षःस्थल पर एक दिव्य माला गिरती है और इस आघात से उस के प्राण पखेरू उड़ने लग जाते हैं। अज के शोक की कोई सीमा नहीं—उस को अपना जीवन भाररूप हो जाता है। उस के दुःखी हृदय को किसी प्रकार शान्ति नहीं मिल सकती। किसी की सान्त्वना काम नहीं देती। तत्त्वोपदेश भी सब निरर्थक है—

"तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशंकुः
प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं
लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥"

वह तड़प तड़प कर आखिर इस असार संसार से चल बसता है।

नवें सर्ग में हम उस के पुत्र दशरथ को राज्य करते हुए पाते हैं। हृदयंगम विस्तार के साथ एक बड़े आखेट का वर्णन किया गया है जिस का अन्त विषादमय होता है—अभाग्यवश राजा दशरथ का प्राणान्तकारी तीर एक ऋषि-कुमार पर जा लगता है। इस दारुण घटना से अत्यन्त पश्चात्ताप करता हुआ राजा उस मरते हुए ऋषि-बालक को उस के पिता के पास ले जाता है जो क्रुद्ध हो कर—

"दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका-
दन्त्ये वयस्यहमिवेति" तमुक्तवान्—

उस को अभिशाप देता है कि तुम भी मेरी ही तरह वृद्धावस्था में पुत्रशोक से मरोगे ।

दशवें सर्ग में रावण से सताए हुए देवता लोग विष्णु के पास जा कर सहायता के लिए प्रार्थना करते हैं। भगवान् अपने तेज को चतुर्धा विभक्त कर के दशरथ के घर में राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के रूप में अवतरते हैं। अगले सर्ग में राम का राक्षसों से आश्रम की रक्षा के लिए विश्वामित्र के साथ जाना और ताड़का को मारना, मिथिला में जा कर अपने अनुपम बाहुबल से सीता के हृदय पर आधिपत्य करना, और क्षत्रियकुलद्रोही परशुराम को नीचा दिखाना, आदि बातें वर्णित हैं। बारहवें सर्ग में संक्षेप से किन्तु प्रभावोत्पादक रीति पर कैकेयी का राम को वनवास और भरत को राज्य दिलाने का असान्निर्बन्ध, राम का सीता और लक्ष्मण के साथ वन को जाना, सीता का हरा जाना, हनुमान् का उन्हें ढूँढ़ने के लिए प्रयत्न करना और उन की ख़बर लाना, लङ्का पर आक्रमण और राम को जय-श्री मिलना, ये सभी घटनाएँ दर्शाई गई हैं।

तेरहवें सर्ग में कालिदास ने अपने वर्णन-वैभव को स्वच्छन्दता से प्रसारित किया है। राम लङ्काविजय के बाद अपने प्रिय परिवार के साथ पुष्पक-विमान पर

अयोध्या को वापिस आ रहे हैं । अन्तरिक्ष से पृथ्वी के वन, पर्वतों, नदी समुद्र आदि को देख देख कर सीतादेवी को उन का वर्णन सुनाते हैं—

"वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनैव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥"

हे सीते, मेरे (बनाए हुए) पुल से मलयाचल तक विभक्त हुए, झाग से परिपूर्ण, इस जलनिधि को तो देखो। कैसा मालूम होता है, मानो छायापथ से विभक्त, जगमगाते हुए तारकों से युक्त शरद् ऋतु का विमलाकाश हो।

देखो, यह सामने निषादराज का नगर है—

"पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय ।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकयि कामाः फलितास्तवेति ॥"

जिस में मणिमय मुकुट को उतार कर मेरे जटा धारण करने पर सुमन्त्र रो उठा था और उस ने करुण स्वर में कहा था कि हे कैकेयि, अब तेरे मनोरथ पूर्ण हुए हैं। अयोध्या के निकट पहुँच कर क्या देखते हैं कि प्रिय भरत वल्कलवस्त्र पहिने वृद्ध मन्त्रियों के साथ स्वागत के लिए आ रहे हैं।

पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाप्यंकगतामभोक्ता ।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥

युवा होने पर भी जो पिता की दी हुई अङ्कागत लक्ष्मी (राजश्री) को, मेरे प्रति परम आस्था रखने के कारण, न

भोग कर इतने वर्ष उस के साथ अत्यन्त कठिन असिधारा-व्रत का अभ्यास करता रहा है।

चौदहवें सर्ग में भर्तृवियोगिनी वृद्ध राजमाताएँ बड़ी उत्सुकता से अपने पुत्रों को मिलने आती हैं। सीतादेवी इस बात पर खेद प्रगट करती हैं कि उन के कारण राम को दुःख उठाना पड़ा है। इस विषादमय आभाष के समनन्तर ही, निर्धारित कला के साथ, राज्याभिषेक का भव्य दृश्य सामने आता है। किन्तु अयोध्या के ये प्रमोद के दिन अचिरप्रभा के प्रकाश के समान सहसा भाग्यान्धकार में विलीन होजाते हैं। क्षुद्राशय प्राकृत जन सीता के सतीत्व पर शङ्का करने लगते हैं। राम को लोकरञ्जन के लिए उस देवी का परित्याग करना पड़ता है। सीता की आत्मचिन्ताशून्यता और महानुभावता को देखिए कि वह चुपचाप हृदय को स्थिर कर के इस नए विपदार्णव के दुःखों को सहन कर लेती हैं! वाल्मीकि उन को अपने आश्रम में आश्रय देते हैं। वहीं सीता के लव और कुश दो पुत्र पैदा होते हैं। इधर राम सीता की सुवर्ण-प्रतिमा बनवा कर उस के दर्शन से किसी तरह अपने दुःखी हृदय को समझा लेते हैं।

पन्द्रहवें सर्ग में अश्वमेध में व्यापृत राम वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचते हैं और वहाँ लव और कुश के मुख से वाल्मीकि-कृत रामायण में वर्णित अपनी विरदावली को सुनते हैं। विस्मयान्वित हो कर वे मुनि को पृथ्वी का राज्य देना चाहते हैं किन्तु आदि कवि को इसी में परम सन्तोष है

कि राम अपनी धर्मपत्नी और अपने पुत्रों को ग्रहण कर लें। राम को इस से अधिक और क्या चाहिए था? किन्तु सीता का अगाध हृदय संक्षुब्ध हो उठता है। उसे स्वाभिमान का ध्यान हो आता है—

वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे।
तथा विश्वम्भरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ॥

देवि वसुन्धरे, तू जानती है कि मैं ने मन, वचन और कर्म से अपना सतीत्व धर्म निभाया है। इस लिए मुझे अपने अंक में छिपा ले—इस पापक्षेत्र में मैं नहीं रहना चाहती! पृथ्वी फट जाती है और उस से एक ज्योति प्रादुर्भूत होती है जिस में सर्पमय सिंहासन पर बैठी हुई भगवती वसुन्धरा प्रकट होती है और सीता को अपने अंक में ले कर अन्तर्हित हो जाती है। राम की जीवन-यात्रा भी समाप्त हो चली है। लव और कुश को राज्य देकर वे स्वयं स्वर्गारोहण करते हैं। यहाँ पर कवि की कविता भी पराकाष्ठा को पहुँच चुकी है।

सोलहवें सर्ग में कुश के स्वप्न का उल्लेख है जिस में उसे कुशावती को छोड़ कर अयोध्या में वसने की आज्ञा होती है। सत्रहवें सर्ग में एक नाग कन्या के मुख से हम कुश के पुत्र की जीवनकथा सुनते हैं। अठारहवें सर्ग में वंश के बहुत से राजाओं की कथाएँ और उन्नीसवें सर्ग में अग्निवर्मा नाम के एक लम्पट राजा की काम-केलियां वर्णित हैं, जो अपने दुराचार की अतिशयता के कारण असमय ही यमराज का अतिथि बन जाता है। यह नहीं कह सकते कि ये सर्ग कालिदास की रचना हैं ही नहीं किन्तु

इस बात में कोई सन्देह नहीं कि उन में काव्यकला सुचारु रूप से अभिव्यक्त नहीं हो सकी, और यह कहना असंगत नहीं कि रघुवंश की समाप्ति से पहिले ही साहित्योद्यान के पुंस्कोकिल, स्वनामधन्य, कविवर कालिदास की पीयूषवर्षिणी भारती मौन हो चली थी।

कालिदास का समय

कालिदास का समय संस्कृत साहित्य की अत्यन्त विवादग्रस्त समस्याओं में से एक है। बहुत से उत्तरकालीन लेखकों ने कालिदास से अवतरण लिए हैं और यत्र तत्र उस का उल्लेख किया है, अत एव यदि कालिदास का समय निर्धारित हो जाय तो उस से अनेकों रचनाओं की ऊपरली काल-सीमा का पता लग सकता है। अभाग्यवश इस विषय में हम अभी तक अन्तिम निर्णय तक नहीं पहुँचे हैं। ऊपरली सीमा सन ई० के १४० वर्ष पूर्व अग्निमित्र की है जो मालविकाग्निमित्र का नायक है। निचली सीमा सातवीं शताब्दी के ऐहोल-शिलालेख में और बाण के उल्लेख से स्पष्ट है।

परम्परा के अनुसार कालिदास सन् ई० के ५७ वर्ष पूर्व विक्रम सम्वत् के प्रवर्तक उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से सर्वश्रेष्ठ रत्न माने जाते हैं। किन्तु यह परम्परा इतनी अर्वाचीन है कि प्रायः कोई भी आधुनिक विद्वान् उस को प्रामाणिक नहीं मानेगा। इस के विपरीत फ्लीट ने यह सिद्ध किया है कि विक्रम सम्वत् आरम्भ में मालवा सम्वत के नाम से प्रचलित था और विक्रम के नाम से बहुत पीछे प्रसिद्ध हुआ।

फर्गुसन के विचारानुसार विक्रम सन् ई० की छठी शताब्दी में विद्यमान था और उस ने ५४४ ई० में कोरूर के एक युद्ध में शक लोगों को हरा कर विजय के स्मारक में विक्रम सम्वत् की स्थापना की, जिस का आरम्भकाल उस ने ६०० वर्ष पूर्व कल्पित किया। इसी उपपत्ति के आधार पर मैक्स मूलर ने संस्कृत-का-पुनरुद्धारविषयक उपपत्ति की कल्पना की। पहिले तो यही एक अत्यन्त उपहासास्पद बात है कि एक विजय-शाली राजा जिस को अपने यश का खयाल है अपनी विजय की तिथि के स्थान में कल्पित काल को रखे, इस के अतिरिक्त पुरातत्त्व सम्बन्धी और अन्य प्रमाणों से इस उपपत्ति का निश्चित रूप से निराकरण कर दिया गया है।

आधुनिक अधिकांश विद्वानों का विश्वास है कि कालिदास गुप्तवंशीय द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्य-काल में विद्यमान था। गुप्त-काल भारतवर्ष के इतिहास में अत्यन्त समृद्धिशाली समय था, जब आर्यों की साहित्यिक कर्मण्यता उत्कर्ष की पराकाष्ठा को पहुँची थी। चन्द्रगुप्त ने शक लोगों पर विजय प्राप्त की थी और उज्जयिनी में उस समय उसी का राज्य था। इस के अतिरिक्त मन्दसोर में पांचवीं शताब्दी का एक शिलालेख है जिस को कवि वत्सभट्टि ने लिखा था। यह रचना उत्कृष्ट श्रेणी के साहित्यिक गुणों से सम्पन्न है और कालिदास की रचना से उस का बहुत कुछ सादृश्य प्रद-र्शित होता है। ये सादृश्य इतने अधिक और स्पष्ट हैं कि दो में से एक ने अवश्य ही दूसरे का अनुकरण किया होगा।

उदाहरणार्थ, मेघदूत के उत्तरार्ध का निम्न लिखित पद्य लीजिए—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रं-लिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं तत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥

अलका नगरी का वर्णन करते हुए यक्ष मेघ से कहता है—तुम बिजली और इन्द्रधनुष से युक्त हो, अन्दर तुम्हारे जल भरा हुआ है और गर्जन तुम्हारी मधुर और गम्भीर है। तुम्हारी समता करने में वहाँ (अलका में) देवमन्दिर अनेक विशेषताओं के कारण समर्थ हैं—उन में बिजली की सी आभा वाली सुन्दरियां वास करती हैं, चित्रों से वे सुसज्जित हैं, संगीत के समय वे मृदंग की ध्वनि से प्रतिध्वनित होते हैं, उन के फ़र्श मणियों से खचित हैं और तुम्हारी ही तरह वे भी इतने उन्नत हैं कि आकाश से बातें करते हुए प्रतीत होते हैं।

इस के साथ वत्सभट्टि के दशपुर के वर्णन की तुलना कीजिए—

चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि ।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥

वहाँ के घर ऐसे ऊंचे पर्वत-शिखरों के मानिंद हैं जो सफ़ेद बादलों से आच्छादित और बिजली रूपी आलेख्य से

सुसज्जित हों, उन में पताकाएं फहराती रहती हैं, स्त्रियों से वे सनाथ हो रहे हैं और अत्यन्त धवल और ऊंचे हैं।

अब विद्वानों की यह धारणा है कि वत्सभट्टि, जो प्रतिभा में कालिदास से अवर है, कालिदास की रचनाओं से परिचित था और उस ने उन का उपयोग भी किया। इस प्रकार कालिदास का पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में होना माना जाता है।

भारवि का किरातार्जुनीय

किरातार्जुनीय महाकाव्य के रचयिता साहित्यकलाकोविद भारवि कवि बाणभट्ट के पूर्वकालीन थे। ऐहोल (Aihole) के ६३४ ई० के शिलालेख से प्रकट होता है कि उक्त समय से पूर्व ही उन के यश का प्रसार हो चुका था। इतने बड़े प्रतिभाशाली कवि के विषय में बाण ने अपनी उदार वाणी को कैसे मौन रखा, इस का एकमात्र उत्तर यही हो सकता है कि समय की निकटवर्तिता के कारण भारवि का यशःसौरभ तत्कालीन सभ्य समाज में अभी पूर्णरूप से नहीं फैलने पाया था। किरातार्जुनीय की कथा महाभारत के वनपर्व से ली गई है। भारतीय उपाख्यान इस प्रकार है—महर्षि व्यास के कहने से पाण्डवों को द्वैतवन छोड़ना पड़ता है। युधिष्ठिर ऋषि के दिए हुए मन्त्र से अर्जुन को दीक्षित कर के उस को तपस्या करने के लिए भेजते हैं, जिस से शत्रु पर विजय पाने के लिए वह पाशुपत अस्त्र प्राप्त कर सकें। इन्द्रकील पर्वत पर पहुँच कर अर्जुन तपस्या करने लगते हैं, वहाँ किरातवेशधारी शिव जी से उन का युद्ध होता है—वे अपना असाधारण पराक्रम प्रदर्शित करते हैं, अनेक युक्तियां सोचते हैं किन्तु किरात को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचा सकते, आख़िर क्या देखते हैं कि जिस माला को उन्हों ने शिव जी की मूर्ति को पहनाया था वह किरात के गले में लटक रही है! शिव जी ने ही यह सब खेल रचा है, यह किरात नहीं, मेरे आराध्य देव शिव हैं, यह सोच कर अर्जुन

उन के चरणों में सिर नवाते हैं और उन से अपने अभीष्ट को प्राप्त करते हैं।

भारवि ने इस भारतीय कथा को खूब चमत्कृत किया है—वर्णना वैभव और चरित्र-चित्रण के द्वारा उस को खूब ऊचा उठाया है, वीर रस का चित्रण अत्यन्त सराहनीय हुआ है, प्रकृति के वर्णन में भी प्रसंगानुसार कोई कसर नहीं की गई, भावगाम्भीर्य और वाक्सरणि की ओजस्विता प्रदर्शित करने में कवि ने असाधारण क्षमता प्रकट की है। द्रौपदी एक स्वाभिमानिनी क्षत्रियाणी और महानुभावता आदि श्लाघ्य गुणों से युक्त स्त्री है—महाभारत की द्रौपदी की भांति कार्पण्यशीला और स्थूलदर्शिनी नहीं, उस का हृदय शत्रु-कृत विमानना से संक्षुब्ध होता है और उन्मार्गगामी दुर्योधन की समृद्धि पर वह खीझती है तो उस के मुख से कभी—"*धातारं गर्हे पार्थ विषमं योऽनुपश्यति*"—यह नहीं निकलता कि ईश्वर असमदर्शी है, उस के घर में न्याय नहीं। प्रत्युत ओजस्विनी भाषा में एक वीरांगना की भाँति युधिष्ठिर से पुरुषार्थ दिखलाने की प्रेरणा करती है—वीरोचित नीति का हृदयस्पर्शी उपदेश देती है। अर्जुन तपस्या करने निकलते हैं तो वह प्राकृत नारी की भाँति वियोग के आंसू नहीं बहाती किन्तु समयोचित उपदेश देकर उन्हें विदा करती है—जाओ, अपने तपोबल से अभीष्ट की प्राप्ति करो, जब तक तपश्चर्या सिद्ध नहीं हो जाती, हमारे विछोह से विमनस्क न होना।

"यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवांकमुपैति सिद्धिः॥

यश प्राप्त करने के लिए, या सुखोपभोग की इच्छा से, अथवा अनन्यसाधारण कर्म करने के लिए जो उत्कण्ठा छोड़ कर धुन में लग जाते हैं उन की गोद में सिद्धि बड़े चाव से स्वयं ही आकर खेलने लग जाती है। अधर्मी कौरवों ने जो हमारी अवमानना की है, दुःशासन ने जो नितान्त नीच कर्म किया है, इन सब बातों को भूल न जाना। तपस्या सावधान हो कर करना—

मा गाश्चिरायैकचरः प्रमादं वसन्नसंबाधशिवेऽपि देशे।

मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि।

चिरकाल तक निरुपद्रव प्रदेश में रहने से आत्मरक्षा के प्रति अनास्था न कर बैठना, राग द्वेष आदि विकारों से जिन के हृदय कुण्ठित होगए हैं उन का मन महात्माओं के प्रति भी विकृत हो जाया करता है।

द्रौपदी के चित्रण में वस्तुतः भारवि ने अपनी प्रतिभा की पराकाष्ठा दिखाई है। इस देवी का एक एक वचन सुन कर हम कृतकृत्य हो जाते हैं—उस के मुख से शब्द निकलते हैं तो हम समझते हैं हमारे कानों में अमृतवर्षा हो रही है। इसी प्रकार भारवि के हाथ में पड़ कर भीम का चरित्र भी अच्छा पल्लवित और परिष्कृत हुआ है—वह केवल गदा चलाने में ही सिद्धहस्त नहीं रहा किन्तु वाग्व्यापार में भी कुशल हो गया है। युधिष्ठिर उस की वाग्मिता की सराहना करते हैं तो हमें साथ ही कवि का भी ध्यान हो आता है—

"स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥

ध्यान क्या आता है, हम समझते हैं मानों हम भारवि की पीयूषवर्षिणी "प्रसन्नगम्भीरपदा" सरस्वती की यथार्थता का वर्णन सुन रहे हैं। एकबारगी चौदहवें सर्ग का यह श्लोक भी स्मृति-पथ में अवतीर्ण हो आता है—

"विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥

भारवि की भारती में भी ये सब गुण विद्यमान हैं—उस में पदों की अभिव्यञ्जक शक्ति और अर्थगौरव, शिथिलबन्धता और पुनरुक्ति का अभाव, अलंकरणसौष्ठव और स्वारस्य, आदि सभी वाञ्छनीय गुण बिल्कुल स्पष्ट हैं। यह ठीक है कि पन्द्रहवें सर्ग में कवि ने कृत्रिमता की हद कर दी है किन्तु अन्यत्र स्वाभाविकता का पूर्ण निर्वाह हुआ है—जहां पर जिस रस या जिस अलंकार की उपयुक्तता समझी गई वह अनायास ही स्फुरित हो गया है। ओजस्विता तो मानों भारवि-काव्य का प्राण है।

भारतीय उपाख्यान में कहीं अतिमानुषता है तो कहीं प्राकृत-जनोचित क्षुद्रता। भारविकाव्य में जहाँ तक हो सका स्वाभाविकता लाई गई है। घटना विशेषों में जहाँ कहीं परिवर्तन किए गए हैं वहाँ पर किरातार्जुनीय में अपूर्व हृदयङ्गमता आ गई है।

पहिले सर्ग में एक सुन्दर नवीन कल्पना की गई है। दुर्योधन की राज्य-व्यवस्था का पता लेने के लिए युधिष्ठिर द्वैतवन से एक गुप्तचर भेजते हैं जो यह अनिष्ट समाचार लेकर लौटता है कि दुर्योधन ने अपने शासन को लोक-प्रिय बना कर प्रजा के हृदयों पर आधिपत्य कर लिया है—

"विशंकमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि बनाधिवासिनः।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः॥"

सिंहासनासीन होने पर भी आप से—यद्यपि आप राज्य खोकर वन में वास कर रहे हैं, सर्वथा निःसहाय हैं—पराजय की आशङ्का कर के सुयोधन द्यूत के छल से जीती हुई वसुन्धरा को नीति से वशीभूत करने में प्रयत्न-शील है। कुटिल मति हो कर भी आप को तुच्छ करने की इच्छा से दान दाक्षिण्य आदि गुणगरिमा से अपनी कीर्ति का विस्तार कर रहा है—नैतिक कुशलता से आप की सम्पत्ति का प्रभु बनना चाहता है। आत्म-संयम और अप्रमाद, अनासक्ति और आश्रितों के प्रति अनुग्रह, गुणग्राहिता और वदान्यता, न्याय-शीलता और नीति-निपुणता, आदि अनेक राजोचित गुणों के कारण राज-लक्ष्मी उस की छन्दानुवर्तिनी हो रही है। बड़े बड़े शक्ति-शाली स्वाभिमानी, लब्धप्रतिष्ठ, वीर धनुर्धारी प्राण-पण से उस का हित करने के लिए तत्पर हैं। सामन्त लोग फूलों के हारों की भाँति उस के शासन को सिर पर धारण करते हैं। किन्तु इस से क्या?

"प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥

समुद्रपर्यन्त भूमण्डल पर निष्कण्टक राज्य करता हुआ भी वह आप से आने वाली विपत्ति की चिन्तना करता ही रहता है—उस का अन्तरात्मा उस को निरन्तर कोसता रहता है। बलवान् से विरोध करने में कब किस को अच्छा फल मिला है? इस समय आप इस निर्जन वन में भटकते फिर रहे हैं तो इस से क्या, आप की धर्मनिष्ठता और प्रजावत्सलता को कौन नहीं जानता।

द्रौपदी ने सुना अत्याचारी शत्रु अपने अनाचार का फल पाने के बदले उल्टा समृद्ध हो रहा है, पूर्व अवमाननाओं का स्मरण हो आने से उस का हृदय संक्षुब्ध होने लगता है, वह युधिष्ठिर से युद्ध की प्रेरणा करती है—महाभारत की द्रौपदी की भाँति कार्पण्य भरी वाणी से नहीं, किन्तु एक स्वाभिमानिनी राजमहिषी की भाँति,—

भवादृशेषु प्रमदाजनोचितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः ॥

आप जैसे महानुभावों में स्त्रीजनोचित उपदेश एक प्रकार से तिरस्कार जैसे लगता है किन्तु मेरी मनोव्यथा मुझे प्रेरित कर रही है—धृष्टता करने के लिए मुखरित कर रही है। तुम ने अपने हाथ से चिर-प्रणयिनी राजलक्ष्मी को शत्रु के हवाले किया है, तुम को छोड़कर ऐसा और कौन होगा जो

श्लाघ्य गुण सम्पन्न कुल-वधू के समान राजश्री को दूसरों से अपहरण करवावे, कितनी भारी विडम्बना है! इस प्रकार की क्षन्तव्यता तुम को शोभा नहीं देती। राजभवनों में शयन करने वाला तुम्हारा भ्रातृ-वर्ग वन के दारुण दुःखों को सहन कर रहा है, क्या इस से भी तुम्हारा चित्त दुःखी नहीं होता? तुम्हारी स्वयं क्या दशा हो रही है—

"पुराधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमंगलैः।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः॥"

जो तुम पहिले बहुमूल्य शय्या पर सो कर प्रातः समय वैतालिकों के अतिमधुर विरदबचनों से जगाए जाते थे, वही अब कुशा से भरी हुई वनस्थली पर लेट कर गीदड़ों के अमङ्गलप्रद कोलाहल से नींद को त्यागते हो। कहां वह राज्यसम्पदा और कहां यह अधोगति को पहुँचाने वाली अकिञ्चनता! और सो भी शत्रु के कारण—उन्मार्ग-गामी शत्रु के कारण!

यश के धनी, तेजस्वियों में परम प्रधान, आप जैसे लोग इस प्रकार की घोर अवमानना पाकर सन्तोष करते हैं तो फिर संसार में स्वाभिमानता रह चुकी! अतएव छोड़ो इस विनाशकारिणी शान्ति को। उठो! क्षात्रधर्म का अवलम्बन करो। अपने अस्त हुए प्रताप रूपी सूर्य को फिर से चमका डालो।

दूसरे सर्ग में ओजःपूर्ण पदावली में भीम भी द्रौपदी की बात का समर्थन करता है, किन्तु युधिष्ठिर सहमत नहीं हो

सकते। वे भीम की वाग्मिता पर हृदय से मुग्ध हैं किन्तु सहसा युद्ध करना उचित नहीं समझते। तीसरे सर्ग में महर्षि व्यास द्वैत वन में पधारते हैं और अर्जुन को मन्त्र दे कर तपस्या करने का आदेश देते हैं। यहाँ पर हमें एक बार फिर द्रौपदी के दर्शन होते हैं, उस करुण-मूर्ति को देख कर हमारा हृदय संक्षुब्ध हो जाता है, उस की मनस्विता और स्वाभिमानता से हम गद्गद हो जाते हैं। अर्जुन का वीर हृदय उस क्षत्रियाणी के ज़ोरदार शब्दों को सुन कर उछलने लगता है—उस का साहस द्विगुणित हो जाता है और उस के मुख पर एक अपूर्व तेज निकल आता है। वह प्रस्थान करता है तो जड़ प्रकृति तक प्रमोद से भर जाती है। चौथे सर्ग में कवि को शरदृतु और ग्वालों की दिनचर्या के वर्णन करने का सुअवसर मिलता है, अर्जुन यक्ष के साथ इन्द्रकीलपर्वत पर पहुँचते हैं। अगले सर्ग में हिमालय की नैसर्गिक छटा का मनोहर चित्र उतारा गया है।

"श्रीमल्लताभवनमोषधयः प्रदीपाः
शय्या नवानि हरिचन्दनपल्लवानि।
अस्मिन्रतिश्रमनुदश्च सरोजवाताः
स्मर्तुं दिशन्ति न दिवः सुरसुन्दरीभ्यः॥"

समृद्धिशालिनी लताओं के निवास-भवन, दिव्य औषधियों के नैसर्गिक दीवे, लालचन्दन के नए पतों का बिछौना, और सुरत-खेद को दूर करने वाली कमलवन की बयार, आदि विनोद सामग्री से सुरसुन्दरियां स्वर्ग को भी भूल जाती हैं—

स्वर्ग से भी रमणीय प्रदेश है! किन्तु अर्जुन को ये नैसर्गिक सम्पत्तियां और भी विरक्त कर देती हैं।

छठे सर्ग में अर्जुन तपश्चर्या में निमग्न हैं,—

"धृतहेतिरप्यधृतजिह्ममतिश्चरितैर्मुनीनधरयञ्शुचिभिः।
रचयांचकार विरजाः स मृगान्कमिवेशते रमयितुं न गुणाः॥"

शस्त्र धारण किए हुए हैं किन्तु मन में किसी प्रकार की कुटिलता नहीं, अपने विमल चरित्र से मुनियों को भी मात कर गये हैं, स्वयं विरक्त होकर भी अपने कमनीय गुणों के कारण वन के पशुओं को भी अनुरक्त कर रहे हैं। इस भीषण तपस्या से वहां के रहने वाले गुह्यकों के हृदय में अनिष्ट की आशङ्का होती है। वे यह समाचार लेकर इन्द्र के पास पहुँचते हैं। इन्द्र इस विलक्षण तपस्वी की समाधि भङ्ग करने के लिए गन्धर्व और अप्सराओं को भेजता है। वे पृथ्वी पर उतरते हैं तो प्रकृति अपने अशेष वैभव से उन के स्वागत की तय्यारियां करने लगती है। पूरे तीन सर्ग अप्सराओं की विलासिता और चन्द्रोदयादि के वर्णन में समाप्त होते हैं। दशवें सर्ग में सुर-सुन्दरियां सुन्दर दिव्य वस्त्र पहिने, नूपुरों को झन्कारतीं, विविध विलास और लचक के साथ तपोवन में पहुँचती हैं, अर्जुन को मुग्ध करने के लिए नाना प्रकार की चेष्टाएं करती हैं, जब—कुछ नहीं बनता तो कातर स्वर से विनति करती हैं, स्त्रीजनोचित सम्पूर्ण लज्जा को तिलाञ्जलि दे देती हैं, करुण क्रन्दन करती हैं! किन्तु इस से क्या! जो हृदय शत्रु के अत्याचारों से उद्विग्न हो रहा है उसे तुच्छ सुखोपभोग की इच्छा कैसे? जिस

काम के करने से सत्संकल्प नष्ट होते हैं उस से प्रीति कैसे ? अप्सराएं अपना सा मुँह लिये स्वर्ग को वापिस जाती हैं। ग्यारहवें सर्ग में वृद्ध ब्राह्मण के वेश में इन्द्र स्वयं पधारता है। अर्जुन, यह तुमने क्या ढोंग रच रखा है ? क्या इसी का नाम तपस्या है ? इस तरह नहीं मुक्ति होगी। अरे, इन शस्त्रों को फेंक डाल, अस्त्र धारण करना तापसोचित कर्म नहीं। काम, क्रोध, मोह, मात्सर्यादि को छोड़, विरक्त हो, इस निर्जन वन में गंगा के पवित्र तट पर तपस्या करो तब मुक्ति मिलेगी, अन्यथा नहीं ! इन्द्र की इस बात को सुनकर अर्जुन कहते हैं, भगवन् ! क्षमा करो। मेरी तपस्या कुछ मुक्ति के लिए नहीं। आह ! मुक्ति किस मर्ज की दवा है ? क्या इतनी जल्दी शत्रु के अत्याचारों को भूल जाऊं ? द्रौपदी की मानहानि यों ही सहन कर लूं ? समुद्र की तरङ्गों के समान अस्थिर सुख और सम्पत्ति मुझे नहीं चाहिए और नहीं इस भय से कि जीवन अनित्य है मुझे मोक्ष की इच्छा है। यदि भले लोग हंसते हैं तो हंसें। इसे मेरी बुद्धि का प्रमाद समझते हैं तो समझें। आप भी मेरा उपहास करते हैं तो करें। जिस को ठंडे पानी की ज़रूरत हो उस की दूध से भला कैसे तृप्ति हो सकती है ? इसी से कहता हूं—

''वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम् ।
८
निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः ॥''

और तो क्या, जब तक शत्रु का विनाश कर के वंशलक्ष्मी का उद्धार न कर लूं, परम-पद भी मुझे अच्छा नहीं

लगता—विजय में केवल बाधा स्वरूप प्रतीत होता है । मेरा निश्चय भी सुन लीजिए—

"विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि ।

आराध्य वा सहस्राक्षमयशः शल्यमुद्धरे ॥"

या तो इसी पर्वत के शिखर पर वायु से छिन्न भिन्न हुए बादल की भांति विनष्ट हो जाऊंगा या सुरेश की आराधना कर के अपयश रूपी कण्टक को निकालूंगा—इन से भिन्न और कोई गति नहीं अपने प्राणों पर खेल कर भी फिर से अपने विमल यश का प्रसार करूँगा, केवल देवेन्द्र का अनुग्रह चाहिए। यह सुन कर इन्द्र अपना दिव्य स्वरूप प्रकट करता है और प्रेम-पुलकित होकर अर्जुन को शिव जी की उपासना करने का उपदेश देता है ।

बारहवें सर्ग में अर्जुन फिर से तपस्या करने लगते हैं । ऋषि लोग भीतचकित हो कर शिव जी के पास समाचार ले जाते हैं जो उन को सारा रहस्य समझाते हैं और स्वयं परीक्षा लेने के लिए किरात के वेश में अपने परिचारकों के साथ इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचते हैं, मूकासुर भी सुअर के रूप में अर्जुन को मारने के अभिलाष से वहाँ आता है ।

तेरहवें सर्ग में किरातराज और अर्जुन दोनों ही उस पर तीर छोड़ते हैं । अर्जुन उसके मृत शरीर से बाण निकालते हैं तो इतने ही में एक किरात आता है और उन से कहता है कि यह तीर हमारे स्वामी का है, इसे हमें दे दो, तुम्हारी यह चेष्टा शिष्ट

जनोचित नहीं ! यह हाल जब तुम्हारा ही है तो सर्व-साधारण से सदाचरण की क्या आशा रख सकते हैं; तुम्हें अपने इस कर्म पर लज्जित होना चाहिए !

चौदहवें सर्ग में अर्जुन उसकी धृष्टता का युक्तियुक्त मुँहतोड़ जवाब देते हैं; बात तो तुम ने बड़े अच्छे ढँग से कही है—इस प्रकार सारगर्भित शब्दों में भावों को व्यक्त करना हर एक से नहीं बनता, केवल पुण्यात्माओं ही से यह हो सकता है, किन्तु तुम्हारे प्रलोभन और डांट डपट में सर्वथा न्याय-निष्ठता का अभाव है, अच्छा तो यह होता कि तुम अपने किरात-राज को ऐसी अयुक्त चेष्टा से रोकते।

" ध्रुवं प्रणाशः प्रहितस्य पत्रिणः
शिलोच्चये तस्य विमार्गणं नयः ।
न युक्तमत्रार्यजनातिलङ्घनं
दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः ॥ "

बाण यदि चलाया था तो उसका खोया जाना भी निश्चित ही था; तुम्हारे लिए उचित था कि इधर ही कहीं पहाड़ पर उसकी खोज करते; व्यर्थ किसी सत्पुरुष पर दोषा-रोपण करना कहां की नीति है ? भले आदमियों के साथ उद्धताचरण करने से भी कहीं किसी का भला होता है ? वन के पशु किसी की पैतृक सम्पत्ति तो हैं ही नहीं कि दूसरा उन पर शस्त्र-प्रहार न कर सके। यह जो तुम ने शुष्क विवाद ठाना है क्या इसी का नाम समुदाचार है ?

इस के उपरान्त अन्तिम चार सर्गों तक अर्जुन और किरात-सेना का तीव्र विवाद और घोर संघर्ष दर्शाया गया है; किरात-सेना बुरी तरह परास्त होती है और स्कन्द और स्वयं शिव युद्ध के लिए उपस्थित होते हैं, अर्जुन और शिव में भीषण युद्ध होता है। आख़िर प्रसन्न होकर शिव जी अपना असली स्वरूप प्रकट करते हैं और अर्जुन को अपने पाशुपत अस्त्र देते हैं।

भारवि-काव्य में साहित्यिक उत्कृष्टताएँ तो हैं ही, इस के अतिरिक्त हम उस से स्वतन्त्रता, स्वाभामिनता आदि का पुनीत पाठ भी पढ़ते हैं। किन्तु यह सब कुछ तपस्या का फल है। मनुष्य चाहे तो देवता बन सकता है—सत्संकल्प और अनवरत अध्यवसाय से दिव्य गुणों को प्राप्त कर ककता है।

"निरुत्सुकानामभियोगभाजां
समुत्सुकेवांकमुपैति सिद्धिः ॥"

माघ

शिशुपालवध ।

शिशुपालवध उन तीन महाकाव्यों में से है जो वृहत्त्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं, अर्थात् किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषध । मैकडोन्यल अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखते हैं कि यह महाकाव्य सम्भवतः नवीं शताब्दी में, और निःसन्देह दसवीं शताब्दी के अन्त होने से पहिले लिखा गया होगा; किन्तु इस से केवल उनकी अनभिज्ञता सूचित होती है । जैसा कि प्रिंसिपल रे ने लिखा है वामनाचार्य ने काव्यालङ्कारसूत्र-वृत्ति में शिशुपालवध से अनेक पद्य उद्धृत किए हैं; वामनाचार्य का समय आठवीं शताब्दी माना जाता है; अतएव उक्त महाकाव्य के रचयिता माघकवि का सातवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में होना ही अधिक युक्तियुक्त है और सम्भव है कि वे भवभूति के समकालीन रहे हों। प्रोफेसर कीथ ने भी एक शिलालेख के आधार पर सातवीं शताब्दी का अन्त ही इन का समय माना है । इन के पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलाट के मन्त्री थे और इन के पिता का नाम दत्तक सर्वाश्रय था ।

वंगदेशीय पण्डितसमाज ने माघकाव्य को जो महत्त्व दिया है वह सर्वथा अनुचित है । इस में सन्देह नहीं कि माघ की रचना में लालित्य और वर्णनासौन्दर्य विद्यमान हैं किन्तु यह कहना कि—

"तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।

उदिते नैषधे भानौ क्व माघः क्व च भारविः ॥"

माघ के सामने किरातार्जुनीय के रचियता कुछ नहीं हैं और नैषध का एकदम आसमान पर चढ़ा देना भारवि के साथ सरासर अन्याय करना है । आखिर अनुकरण अनुकरण ही है—माघ ने आदि से लेकर अन्त तक भारवि का अनुकरण किया है और वह भी इस तरह कि किरातार्जुनीय का जैसा चमत्कार अपनी रचना में नहीं ला सके ।

पहिले सर्ग में तो मौलिकता को बिल्कुल ही छुट्टी करदी है; जहां कहीं पर कोई मनोहर भाव हैं भी वे केवल किरात के उल्था-मात्र हैं; रावण के सम्बन्ध में नारद की सम्पूर्ण वार्तालाप कुमारसम्भव की ताड़का के अत्याचारविषयक वार्तालाप का, जो बृहस्पति ने ब्रह्मा से की, अनुकरण है । चरित्र-चित्रण उदात्त कल्पना, ओजस्विता, स्वाभाविकता आदि गुण तो किरातार्जुनीय ही में रह चुके । किरात का शृङ्गार सर्वथा स्वाभाविक और प्रसंगोचित है, प्रधान रस का पोषक है; किन्तु माघ को तो सर्गों की संख्या पूरी करनी थी, और साथ ही अलङ्कार-शास्त्र की आज्ञा भी पालन करनी हुई—कामकेलि, ऋतु आदि का वर्णन तो करना ही हुआ, प्रस्तुत विषय से उस का मेल भले ही न हो । अस्तु माघ को भारवि से बढ़ कर बताना आलोचनात्मक दृष्टि पर जान बूझ कर पर्दा डालना है ।

माघ-काव्य बीस सर्गों में समाप्त हुआ है । इस की कथा महाभारत से ली गई है । प्रथम सर्ग में शिशुपाल के अत्याचारों

से भीत चकित हो कर देवता लोग नारदमुनि को भगवान् कृष्ण के पास भेजते हैं। वीणा को झनकारते हुए नारद जी वसुदेव के घर में पहुँचते हैं; और भगवान् से शिशुपाल का प्राक्तन वृत्तान्त सुनाते हैं। हिरण्यकशिपु हो कर उस ने भक्तों को दुःख दिया, रावणावतार में अपने राक्षसी कृत्यों से पृथ्वी के भार को बढ़ाया, इस समय भी—

"बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा।
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि।"

अपने गर्व में चूर हो कर संसार को पीड़ित कर रहा है। कृष्ण जी शिशुपाल के विनाश का वचन दे कर नारद जी को विदा करते हैं।

दूसरे सर्ग में द्विविधा में डालने वाली एक अड़चन उपस्थित होती है—युधिष्ठिर ने उन को राजसूय यज्ञ में बुलाया है, बलराम उन से युद्ध के लिए प्रस्थान करने की प्रेरणा करते हैं, किन्तु अन्त में उद्धव की नीतिपूर्ण मन्त्रणा को मान कर वे इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रयाण करते हैं।

तीसरे सर्ग में श्रीकृष्ण का ठाठ बाट, द्वारका नगरी का सौन्दर्य और अतुल वैभव, इत्यादि वर्णन किया गया है।

चौथे सर्ग में रैवतक पर्वत की नैसर्गिक छटा का चित्र उतारा गया है। उस की अपूर्व शोभा देखते ही बनती है—

"दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववद्विस्मयमाततान।
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः॥"

इसी तरह कई सर्गों में वन-विहार, जलक्रीडा, मधुपान आदि आनुषङ्गिक बातों का सविस्तर वर्णन करके आखिर चौदहवें सर्ग में पहुँच कर कवि को अपने प्रस्तुत विषय की सुध आती है। भगवान् कृष्ण इन्द्रप्रस्थ में पधारते हैं। राजसूय में आये हुए राजाओं को यथोचित प्रीति-दान वितरण करने का कार्य भीष्मपितामह उन्हें सौंपते हैं। चेदिराज शिशुपाल इस बात से जल भुन जाता है; भीषम, युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण, सब पर अपने वाग्विष की वर्षा करता है। श्रीकृष्ण अवसर देख कर उस समय किसी तरह उस के धृष्ट व्यवहार को सहन कर लेते हैं। यज्ञ समाप्त हो जाने पर दूत के द्वारा युद्ध का प्रस्ताव छिड़ता है। अठारहवें सर्ग में घमासान युद्ध होता है और अन्तिम सर्ग में शिशुपाल यम-लोक को पहुँचाया जाता है।

माघ ने विषय भी ऐसा चुना जो वीरकाव्योचित नहीं कहा जा सकता। कथा-वस्तु इस कार्य के लिए सर्वथा अपर्याप्त है। उस को प्रतिभा के रङ्ग में रंग कर विकसित करने की चेष्टा की गई हो, यह बात भी नहीं है। प्रत्युत आनुसंगिक वर्णनों से उस को और भी ढक दिया है। वर्णना को प्राधान्य देकर भारतीय कथा की स्वाभाविकता को कृत्रिमता के आवरण में अन्तर्हित कर दिया है।

———

भट्टिकाव्य

भट्टिकाव्य कवि और वैयाकरण श्रीभर्तृहरि की रचना बताई जाती है। इस का रचयिता सम्भवतः सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान था और वलभी में श्रीधरसेन के आश्रय में उस ने इस को लिखा। बाईस सर्गों में रामायणीय कथा का सारगर्भित रूप से दिग्दर्शन कराया गया। यद्यपि व्याकरण के नियमों का विशदीकरण इस महाकाव्य का प्रधान उद्देश्य है, तथापि इस से कथा में आरोचकता नहीं आने पाई। कथास्रोत निरन्तर बहा चला जाता है। यह बात भी नहीं है कि उस में कविता का अभाव हो,–जहां कहीं अवसर मिला कवि की कवित्व-शक्ति ने भी अपना चमत्कार प्रदर्शित किया है। दसवें सर्ग में कवि ने अलङ्कारों के भेदोपभेद भी खूब प्रदर्शित किए हैं।

भट्टिकाव्य से उस के रचयिता का असाधारण पाण्डित्य प्रदर्शित होता है। संस्कृत व्याकरण जैसे शुष्क विषय को इस प्रकार रोचक बनाना, सूखे अस्थिपञ्जर में रस-सञ्चार करना, साधारण बुद्धि का काम नहीं। उदाहरण के तौर पर—

अश्वीय राजन्यकहस्तिकादयम् ।
अगात् सराजं बलमध्वनीनम् ॥

इस में अनेक विरल प्रत्ययों के प्रयोग किस चातुर्य से दिखाए गए हैं।

नैषधचरित

नैषधचरित खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता और तार्किक श्रीहर्ष की कृति है, जो बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कन्नौज के राजा जयचन्द्र के आश्रय में विद्यमान था। पण्डित-समाज में इस महाकाव्य का बड़ा आदर है। इस आदर का कारण कथा का नैसर्गिक सौष्ठव अथवा वर्णन का स्वारस्य नहीं,—ये गुण श्रीहर्ष की रचना में एक प्रकार से हैं ही नहीं, महाभारत के स्वभावसुन्दर नल और दमयन्ती के उपाख्यान को अतिरञ्जना के रङ्ग में रंग कर इस प्रकार विकृत किया गया है कि उसे नैसर्गिक रसज्ञता का अभाव कहें तो अनुचित न होगा। एक साधारण कथा को ले कर बाईस सर्गों का एक महाकाव्य रच डालना श्रीहर्ष जैसे व्युत्पन्नमति लेखक के लिए कोई कठिन बात नहीं। कठिन है उस को स्वाभाविक सीमा के अन्दर रखना और इस के लिए श्रीहर्ष की प्रतिभा सर्वथा अक्षम है। फिर क्या कारण है कि पण्डित समाज में इस महाकाव्य ने आशातीत प्रतिष्ठा प्राप्त की?

श्रीहर्ष ने इस काव्य में अलङ्कार-शास्त्र के कुछ ऐसे नियमों को निभाया है जिन से कविता में चमत्कार-प्राणता आती है, उस में उच्च कोटि की उत्कृष्टता का संनिवेश होता है। उदाहरणार्थ, कवि ने, जहां तक हो सका, सर्वत्र ध्वनि से काम लेने का प्रयास किया है। ध्वनि की परिभाषा श्री विश्वनाथ ने इस प्रकार दी है—

"वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ।"

वाच्यार्थ को लांघ कर जब व्यञ्जना से अर्थ की प्रतीति होती है तो उसे ध्वनि कहते हैं और यही उत्तम काव्य है।

अस्तु। यहां पर एक जन-श्रुति का उल्लेख कर देना भी उचित मालूम होता है। कहते हैं जब श्रीहर्ष नैषधचरित को लिख चुके तो उन्हों ने उसे काव्यप्रकाश-कार मम्मटाचार्य को दिखाया। वे भी इस समय काव्य-प्रकाश को लिख चुके थे। नैषधचरित को पढ़ कर उन्हों ने कुछ खेद प्रकट किया। कहा. कुछ पहिले तुम्हारी यह रचना मिलती तो मुझे काव्य दोषों के उदाहरणों को ढूँढ़ने के लिए इतना प्रयास न करना पड़ता!

नैषधचरित की संक्षेप कथा इस प्रकार है,—राजा नल विदर्भराजकुमारी दमयन्ती के प्रेम में आसक्त था। दमयन्ती गुणज्ञा और स्वयं उदार गुणों से सम्पन्न थी। एक वार नल ने वन में एक सुवर्णमय हंस को पकड़ा किन्तु दया करके उस को फिर मुक्त कर दिया। इस दया के बदले में हंस नल का सन्देश ले कर राजकुमारी के पास पहुँचता और उस को नल के स्पृहणीय गुणों का परिचय देता है। उधर विदर्भराज भीम स्वयंवर की तय्यारी कर रहे हैं। इन्द्र का दूत आकर दमयन्ती को अनेक प्रलोभन देता है कि वह सुरेश को वरे। स्वयंवर में इन्द्रादि चार देवता नल का रूप धारण करके पधारते हैं। नल के स्थान में अब पांच नल दिखाई देते हैं। दमयन्ती को कुछ सूझ नहीं पड़ता। आखिर दिगीशों

की स्तुति करने से उस को सब भेद मालूम हो जाता है। विवाह हो जाने पर कुछ समय वहीं रह कर नल दमयन्ती के साथ अपनी राजधानी में प्रवेश करता है। वहां कलि के प्रभाव से कुछ वियोग सहन करके फिर दोनों समागम-सुख का उपभोग करते हैं।

गीति-काव्य

मेघदूत

गीति-काव्य भारतीय कविता-कानन का सुन्दर खिला हुआ कमल-पुष्प है। ऋग्वेद की अभिनव और ओजःपूर्ण विचारों से युक्त, भाव-सौन्दर्य में लोकोत्तर चमत्कार-सम्पन्न गीति कविता आर्यों की प्राचीनतम कृति है। इस काव्य-प्रतिभा के उत्कर्ष की पराकाष्ठा का प्रादुर्भाव हम कालिदास की दो सर्वांगसुन्दर कृतियों में देखते हैं।

मन्दाक्रान्ता वृत्त के १५५ पद्यों में इस मनोहर काव्य (मेघदूत) की समाप्ति हुई है। वर्षा-काल के आरम्भ में एक विरही यक्ष, जिस को कर्तव्य में प्रमाद हो जाने के कारण एक वर्ष के लिए देश-निर्वासन का दण्ड मिला है, मेघ के द्वारा अपनी प्रेयसी को कुशल-सन्देश भेज कर सांत्वना देना चाहता है।

"तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम् ।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानां
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥

पूर्वमेघ ॥ १० ॥

सखे मेघ, मेरे विरह के शेष दिनों को गिनने में तत्पर, किसी तरह प्राणों की रक्षा करती हुई, पतिपरायणा, अपनी

भावज को तुम बिना रोक टोक के अवश्य ही देख सकोगे। विरह-वेदना से उस की मृत्यु की आशङ्का न करना। पुनर्मिलन की आशा स्त्रियों के पुष्प के समान सुकुमार अतएव विरह दुःख से क्षण भर में विनष्ट होने वाले प्रेममय जीवन को रोके रहती है। जब तुम चलने लगोगे तो तुम्हारी गर्जना सुनकर राजहंस कैलास पर्वत तक तुम्हारे साथ हो लेंगे। देर करने का कोई काम नहीं। अब अपने सखा इस चित्रकूट पर्वत से बिदा मांगो और शीघ्र अलका के लिए प्रस्थान करो।

श्रुति-सुखद संदेश सुनाने से पूर्व मैं तुम्हें अलका का मार्ग बता देता हूँ। यहां से उत्तर दिशा को जाते हुए पहिले तुम्हें माल नाम का खेत मिलेगा। वहां से भी कुछ दूर तक उत्तर ही की ओर जाना। आगे तुम्हारा पुराना मित्र आम्रकूट तुम्हारे स्वागत के लिए उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते हुए मिलेगा। तदनन्तर—

"रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां।
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमंगे गजस्य ॥" पूर्व मेघ ॥१६॥

विन्ध्याचल के चट्टानों के कारण विषम प्रत्यन्तपर्वत में विशीर्ण हुई नर्मदा नदी को देखोगे।

"तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥" पूर्व०॥२०॥

विन्ध्य-पर्वत पर बरसने के बाद तीखे गज-मद से सुन्धित, जम्बू वृक्षों के कुञ्जों से टकराते हुए नर्मदा के जल को लेकर आगे बढ़ना। रास्ते में तुम्हें भाँति भाँति के पुष्प-पादप, भ्रमर, मयूर आदि अनेक विलम्ब के कारण मिलेंगे। जहां तक हो सके शीघ्रता ही करना। लोकविश्रुत विदिशा नगरी और स्रोतोवाहिनी वेत्रवती का मनोहर दृश्य देखते हुए, सन्तप्त वन उद्यान आदि को अपने जलामृत से सींचते हुए सीधे ही आगे न बढ़ जाना,—

"वक्रः पन्थाः यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्संगप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौरांगनानां
लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥"

॥ पूर्वमेघ ॥ २७ ॥

यद्यपि उत्तर की ओर प्रस्थित हुए तुम्हारे रास्ते में कुछ फेर पड़ेगा तथापि उज्जयिनी के विशाल भवनों को अवश्य देखना। यदि बिजली की प्रभा से चकित हुए नगरसुन्दरियों के कटाक्ष-युक्त चञ्चल नेत्रों से रमण न करोगे तो यह भारी आत्म-वञ्चना होगी! कुछ समय उज्जयिनी की नैसर्गिक छटा और रमणियों के कल विभ्रमों को देख कर, कुरुक्षेत्र, देवगिरि, चर्मण्वती नदी, सुरसरी को पार करते हुए कैलास-पर्वत पर पहुँचना। वहाँ—

"तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।

या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥"

पूर्वमेघ ॥ ६३ ॥

तुम उस के मध्यभाग में पूर्व-परिचित अलका नगरी को देखोगे।

'उत्तरमेघ' में नगर सुन्दरियों के विलास, यक्ष का गृह-वैभव, उस की स्त्री की मनोज्ञतायें और दैनिक कृत्य, परिस्थिति और विरहावस्था का वर्णन है। हे मेघ, अलका में पहुँच कर तुम मेरे मकान को देखोगे--

"क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं।
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥"

मेरे वियोग के कारण उस की रूपश्री फीकी पड़ गई होगी। वहाँ विरह से कृश हुई, चिन्ताशून्यहृदया, अपनी भावज को मेरा यह सन्देश सुनाना कि हे अविधवे, मैं तेरे पति का मित्र हूँ। वह अभी तक अपने प्राणों की रक्षा किए हुए है। शिला पर तेरी प्रतिकृति को लिख कर किसी तरह अपना मनोविनोद करता है। तुझे यह सन्देश भेजा है--

"नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम्।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥"

प्रिये, अधीर होने का कोई काम नहीं। सुख दुःख तो लगा हुआ ही है। दुःख के अनन्तर सुख का होना भी निश्चित ही है। फिर हमारे अभ्युदय के दिन आवेंगे। हृदयोद्गार-चित्रण और वस्तुवर्णन का यहाँ प्राधान्य है।

छोटा होने पर भी अविकलता और कथा-सारल्य में एवं मृदुल और उदार भावों का सही चित्र उतारने में मेघदूत एक सर्वोत्कृष्ट काव्य है। कल्पना-प्रसर, भावों की मृदुता और औचित्य, कल्पना-वैचित्र्य का बाहुल्य, वर्णना-वैभव, विप्रलम्भ शृंगार की प्रचुरता, व्यक्तीकरण की अविषमता और स्वारस्य इन सब गुणों का एकत्र सन्निवेश संस्कृत साहित्य में निःसन्देह और कहीं नहीं मिलेगा। इस के अतिरिक्त यदि यह कहें कि इस काव्य में कहीं भी रचनासंगठन में कोई विप्रतिपत्ति ऐसी नहीं दीखती जिस से उस की सर्वांग-सुन्दरता में किसी प्रकार का तारतम्य हो तो अत्युक्ति न होगी।

मेघदूत गीतिकाव्य का एक अत्युत्तम और असाधारण माधुर्य-सम्पन्न ग्रन्थ है। कोई श्लोक, कोई पाद ऐसा नहीं जिस से कवि के प्रेम अथवा प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण, मानव हृदय के भावों से पूर्ण परिचय अथवा महानुभावता और सौन्दर्य के विज्ञान, बहुदर्शिता अथवा अगाध पांडित्य की निर्भ्रान्त सिद्धि न होती हो।

अनेक सारगर्भित लोकोक्तियां भी मेघदूत में भरी पड़ी हैं। जैसे,

"याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा"।

बड़े से याचना निष्फल भी हो जाय तो बुरा नहीं किन्तु नीच से याचना करने में सफलता भी हो तो अच्छा नहीं।

"कस्यैकान्तं सुखमुपनतम्" ।

हमेशा ही सुख किस को रहा है। इत्यादि।

उपसंहार में इतना कहना पर्याप्त होगा कि यह काव्य अत्यन्त गहन किंच असाधारण करुणार्द्र स्नेह के वर्णन की अति प्रौढ रचना है जिस में मानवी प्रवृत्तियों को उदार और पवित्र बनाया गया है। प्रकृति-वर्णन की शक्ति, जिस का अभास ऋतुसंहार में हो जाता है, मनुष्य हृदय के उद्गारों के कारण जो मेघदूत में सर्वत्र ओत प्रोत है, अधिक उत्-कृष्ट और समुज्ज्वल हो गई है।

मल्लिनाथ (१४वीं शताब्दी) और वल्लभदेव (१२वीं शताब्दी) क्रमशः ११८ और १११ श्लोकों का उल्लेख करते हैं जिस से यह सम्भावना होती है कि मेघदूत में कुछ प्रक्षिप्तांश भी है। गिल्डमीस्टर (Gildemeister) ने, जिन की विवेचक शक्ति अप्रतिम थी, यह सिद्ध किया है कि परम्परागत मेघदूत में अनेक पद्य प्रक्षिप्त हैं। स्वयं मल्लिनाथ ने कई पद्यों को प्रक्षिप्त ठहराया, यद्यपि उन्हों ने टीका प्रक्षिप्तांश पर भी कर दी है।

मूल-ग्रन्थ का निर्णय करने में जैन-साहित्य से भी बहुत कुछ सहायता मिलती है। यहां पर जिनसेन का 'पार्श्वाभ्युदय' विशेष उल्लेखनीय है। इस में अर्हत् पार्श्वनाथ की जीवनी का काव्यमय वर्णन है और इस के प्रत्येक पद्य में मेघदूत से एक

आध चरण लिया गया है। मेघदूत के एक आध पाद को लेकर लेखक ने पार्श्वनाथ के जीवन की घटनाओं की, जिन का यक्ष की जीवनी से बहुत कुछ सादृश्य है, समस्यापूर्ति की है।

जिनसेन का समय, ऐहोल शिलालेख में और बाण के हर्षचरित में जो कालिदास का प्राचीनतम उल्लेख है, उस से एक सौ पचास वर्ष उत्तरवर्ती हैं।

बौद्ध लोगों ने भी मेघदूत का अनुशीलन किया। सिंघाली भाषा में उसका एक अनुवाद उपलब्ध हुआ है और तिब्बती भाषा में भी वह अनूदित किया गया था। इन में क्रम से सात और छः प्रक्षिप्त पद्य हैं।

यह कहा जाता है कि इस काव्य में कालिदास को कुछ अंश तक वाल्मीकि से कल्पनाभास हुआ है।

ऋतुसंहार।

ऋतुसंहार भिन्न वृत्तों के १५३ पद्यों और ६ सर्गों में पूर्ण हुआ है।

इस में छः ऋतुओं का काव्यमय वर्णन है। प्राकृतिक सौन्दर्य की ज्वलन्त वर्णना के बीच बीच में प्रेम के मनोहर दृश्य अनुस्यूत हैं। मानवी भावनाओं और प्राकृतिक परिस्थिति को बड़े कौशल से कवि ने एकत्र सन्निविष्ट किया है। प्रकृति के साथ गहरी सहानुभूति, पर्यवेक्षण की प्रौढ शक्ति, भारतीय दृश्यों को गहरे रंगों में चित्रण करने का यह कौशल सम्भवतः कालिदास के और किसी भी ग्रन्थ में इतनी ओजस्विता के साथ व्यक्त नहीं हुआ है।

ऋतुसंहार की मूल-पर्यालोचना—ग्रन्थकार के विषय में संशय—

जो लोग यह आक्षेप करते हैं कि ऋतुसंहार कालिदास की कृति नहीं है वे निम्नलिखित युक्तियां देते हैं—

(१) इस के किसी भी पद्य का उल्लेख आलंकारिकों ने अपनी पुस्तकों में नहीं किया है।

(२) एक लेखक ने कहा है—

"*ऋतुवर्णनं यथा रघुवंशे*" इत्यादि। रघुवंश, हरिवंश, शिशुपालवध, आदि महाकाव्यों में भी ऋतुवर्णन है। यदि ऋतु-संहार कालिदास की कृति मानी जाती, तो लेखक उसे छोड़ कर ऋतुवर्णन के लिए रघुवंश का उल्लेख क्यों करता?

(३) कालिदास की यही एक ऐसी पुस्तक है जिस पर किसी टीकाकार ने टीका नहीं की है।

(४) 'संहार' शब्द लौकिक संस्कृत में इस पुस्तक में विवक्षित अर्थ में कभी प्रयुक्त नहीं होता। इस के अतिरिक्त 'काव्यत्रय'—रघुवंश, कुमारसम्भव और मेघदूत—ही कालिदास ने बनाये हैं यह उल्लेख भी पाया जाता है।

किन्तु विचार करने से मालूम होता है कि उपर्युक्त आक्षेप ठीक नहीं है। आलंकारिकों ने अपनी पुस्तकों में ऋतुसंहार के पद्यों का उल्लेख नहीं किया; यह तो होना ही चाहिए था। बढ़िया सामग्री के होते हुए वे घटिया के लिए क्यों हाथ फैलाते। रघुवंश जैसी उत्कृष्ट रचना की उपस्थिति में ऋतुसंहार से काम लिया जाता, आश्चर्य तो इसी में था। टीका न करने की बात भी ठीक नहीं। जो पुस्तक इतनी सरल भाषा में लिखी गई हो कि सर्वसाधारण उस को समझ सकते हैं, उस पर टीकाकार टीका लिखने का प्रयास ही क्यों करने लगा।

निःसन्देह ऋतुसंहार कालिदास की यौवन-काल की रचना है। युवात्व का ही यह दण्ड उसे देना पड़ा है कि आधुनिक सम्मति में वह कालिदास की कृति ही नहीं मानी गई, उसे और किसी की रचना ख़याल किया गया! किन्तु प्राचीन मत ऐसा नहीं है। यह स्पष्ट है कि वत्सभट्टि ने उस को इस्तेमाल किया है जिस से उस का प्राक्तन होना सिद्ध होता है। यह ठीक है कि सूक्ष्मदर्शिता और भावगाम्भीर्य में ऋतुसंहार उत्तरकालीन काव्यों की समता नहीं कर सकता किन्तु यह

तो स्वाभाविक ही है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी भाषा के कवि टेनिसन को लीजिये। उस की युवावस्था और प्रौढावस्था की कविताओं में भी ठीक ऐसा ही तारतम्य दृष्टिगोचर होगा। टेनिसन (Tennyson) से कालिदास की तुलना समुचित ही है। दोनों ही प्रतिभा और दैवी शक्ति की अपेक्षा कृतविद्यता और बुधिवैभव के कारण अधिक कवि हैं।

विचारों में वास्तविकता होने के कारण आधुनिक, समालोचना-लेखक बहुधा ऋतुसंहार की सराहना करते हैं।

ऋतुसंहार में सब से पहिले ग्रीष्म ऋतु का वर्णन है। कोई रसिक अपनी सहधर्मिणी से कहता है—प्रिये, शारीरिक स्फूर्ति को स्थगित करने वाला ग्रीष्म काल आ गया है। कामिनियों की सुरत-लीला से सोया हुआ कामदेव मानो जाग रहा है—"*प्रबुद्ध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः।*" चांदनी रात को स्त्रियां अट्टालिकाओं पर ऐसी बेसुध सोती हैं कि चन्द्रमा रात खुलते खुलते निस्संकोच उन को निहारता है। सूर्य के असह्य आतप से भूमिभाग एक अद्भुत तपोवन हो रहा है। जीव जन्तु इतने बेसुध हो रहे हैं कि अपने शाश्वतिक वैरभाव को भी भूल गए हैं। कहीं आशीविष (सांप) मोरों के पंखों तले अपने आप को छिपाते हैं तो कहीं मेंढक सांप की फणा की छाया का आश्रय ले रहे हैं। समीप ही हाथियों के झुंड हैं किन्तु सिंह उन की तरफ झांकते तक नहीं। दिशायें आग उगल रही हैं। वन के वन आग की धधकती लपटों की आहुति हो रहे हैं। वन्य पशु

द्वन्द-भाव को छोड़ कर मित्रों की भाँति मिल कर एक साथ ही जंगलों से भाग कर नदी तट का आश्रय ले रहे हैं—

> "गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसन्तप्तदेहाः
> सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय ।
> हुतवहपरिखेदादाशु निर्गत्य कक्षा-
> द्विपुलपुलिनदेशां निम्नगामाश्रयन्ते ॥"

विरही पुरुषों की तो कथा ही निराली है, विरहवेदना से बेचारे पहिले ही पीड़ित थे, सन्तप्त वसुन्धरा ने उन्हें और भी बेचैन कर दिया है ।

अन्त में रसिक अपनी प्रिया की हित कामना के लिए अभिलाष प्रकट करता है—हे प्रिये, गीत वाद्यादि मनोविनोद से तुम्हारी ग्रीष्म-रात्रियां सुख से कटें ।

इस के पश्चात् भूमि को सजग करने वाली, अलसाये हुए हृदयों में उमंग लाने वाली वर्षा-ऋतु का वर्णन है । आकाश में उमड़े हुए मेघों की निराली छटा, पक्षियों का कलकूजन, बिजुली की कड़क, मोरों का अनूठा नृत्य, जुगनुओं की रह रह कर होने वाली चमक, दौड़ती हुई नदियों का समुद्र-प्रयाण, वन और पर्वतों की लहलहाती हरियाली, शीतल और सुगन्धित पवन के झकोरे, धारासार वृष्टि, इन सभी बातों को कवि ने बड़े रोचक ढंग से लिखा है । अनन्तर, वियोगियों की मनोवेदना का दिग्दर्शन, रमणियों के विविध विलासादि शृङ्गारमय वर्णन

और अन्त में रसिक की अपनी प्रिया के लिए निम्नलिखित शुभ कामना है—

"बहुगुणरमणीयो योषितां चित्तहारी
तरुविटपलतानां बान्धवो निर्विकारः ।
जलदसमय एष प्राणिनां प्राणहेतु-
र्दिशतु तव हितानि प्रायशो वांछितानि ॥"

अनेक गुणों के कारण मनोज्ञ, स्त्रियों के मन को लुभाने वाला, वृक्ष लता गुल्मादि का उद्वेग-शून्य सखा, जीवों का जीवाधार, यह वर्षाकाल तुम्हारे अभीष्ट मनोभिलाषों को पूरा करे।

वर्षा के बीत जाने पर शरत्-सुन्दरी का आगमन होता है। फूले हुए कांस उस के वस्त्र हैं, खिले हुए कमल उस का लावण्य-मय मुख, मदोन्मत्त हंसों की कल कूजन उस के नूपुरों की झन-कार और पके हुए शालिधान्य उस का शरीर-लावण्य। प्रकृति में सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य प्रतीत होता है। नदियों का जल स्फटिक की तरह उज्ज्वल हो रहा है। कहीं खिले हुए कुमुदवन हैं तो कहीं सप्तच्छद और मालती कुसुम अपनी अलग ही छटा दिखा रहे हैं। इस प्रकार अनेक ललित पद्यों में कवि ने शरद् के वैभव का वर्णन किया है। किन्तु बेचारे विरहियों को यहाँ भी चैन नहीं। कुछ न पूछिए, अजीब हालत है—

"असितनयनलक्ष्मीं लक्षयित्वोत्पलेषु
क्वणितकनककाञ्चीं मत्तहंसस्वनेषु ।

अधररुचिशोभी बन्धुजीवे प्रियायाः
पथिकजन इदानीं रोदिति भ्रान्तचित्तः ॥"

नीले कमलों को देखते हैं तो उन्हें प्रिया की नीली नीली आँखों का स्मरण हो आता है, मदोन्मत्त हंसों की कूजन को सुनते हैं तो झनझनाती हुई कटि-मेखला का ध्यान होता है, बन्धुजीव पुष्प को देखते हैं तो प्रिया के होठों की लालिमा आँखों के सामने आ जाती है। किन्तु क्या करें, लाचार हैं। सिवाय आंसु गिराने के उन के लिए और अवलम्ब ही क्या है!

इसी प्रकार हेमन्त, शिशिर और वसन्त का भी शृंगार-मय वर्णन किया गया है। हेमन्त में प्रकृति ने एक और ही वेश धारण किया है। जाड़े ने अपना कठिन शासन आरम्भ किया है। सुबह को जब घास के अग्र भागों में लगा हुआ पाला गिरता है, तो ऐसा जान पडता है मानो शीतकाल रोदन कर रहा है।

"तृणाग्रलग्नैस्तुहिनैः पतद्भि-
राक्रन्दतीवोषसि शीतकालः ॥"

रसिक ने विरहिणी स्त्रियों का अच्छा चित्र खींचा है—

"पाकं व्रजन्ती हिमसंगशीतैरा-
धूयमाना सततं मरुद्भिः ।
प्रिये प्रियंगुः प्रियविप्रयुक्ता
विपाण्डुतां याति विलासिनीव ॥"

हे प्रिये, पक्वावस्था को प्राप्त होती हुई, पाले के संसर्ग से शीतल पवन के झकोरों से निरन्तर हिलोरें लेती हुई, यह प्रियंगु-लता विरहिणी स्त्री के समान पीली पड़ती जाती है।

शिशिर ऋतु का वर्णन नितान्त चेतोन्मादकारी है। सुरत-विलास का यह एक बिल्कुल नग्न चित्र है। इस से ऋतु-संहार कदाचित् दूषित हो गया है। कई तो कहते हैं कि

"वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तरचमत्कारप्राण"

काव्य-रस को बहुत दूषित स्वरूप इस में मिला है।

ऋतुराज वसन्त भगवान् मन्मथ का प्रधान योधा है। बड़ी सजधज के साथ वह बाहर निकला है। विकसित आम्र-मञ्जरी उस के तीखे बाण हैं, उस के धनुष की प्रत्यञ्चा भौंरों की पंक्ति से सुशोभित है। इस प्रकार वसन्त-योधा कामियों के मनों को छेदने के लिए समुपस्थित हुआ है—

"प्रफुल्लचूतांकुरतीक्ष्णसायको
द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः।
मनांसि भेत्तुं सुरतप्रसंगिनां
वसन्तयोधः समुपागतः प्रिये ॥"

चित्त को उत्कण्ठित करने वाली सामग्री का वसन्त में जो बाहुल्य होता है उसी को कवि ने यहाँ कविता के रंग में रंगा है। कोयल की 'कुहू' 'कुहू', भौरों का 'कुण' 'कुण' गुञ्जार, सन सन लगने वाली वसन्त-बयार, इत्यादि सभी बातों का चित्रण कवि ने किया है।

घटकर्पर

इसमें केवल २२ पद्य हैं। किस ने बनाया, इस बात का अभी तक कोई निश्चय नहीं। लेखक के नाम से ही, जो विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक है, इस कविता का नाम पड़ा है।

चौरपञ्चाशिका

यह विह्लण कवि की कृति है जो ११वीं शताब्दी के उत्तर भाग में विद्यमान था। आख्यायिका-परम्परा के अनुसरण से इस सुरीले खण्ड-काव्य की सरसता एकदम द्विगुणित हो गई है। अतीत प्रेम का यह एक बहुत ही भावपूर्ण चित्र है। अस्वाभाविकता की तो इस में कहीं गन्ध नहीं। पढ़ते पढ़ते यही प्रतीत होता है कि एक दुःखी हृदय अपने उद्गारों को रो रो कर प्रकट कर रहा है। एक छोटे से शब्द "अद्यापि" में जो लोकोत्तर चमत्कार है, रसज्ञ ही उस का अनुभव कर सकते हैं।

"अद्यापि तां कनकचम्पकदामगौरीं
प्रफुल्लारविन्दवदनां तनुरोमराजीम्।
सुप्तोत्थितां मदनविह्वलालसांगीं
विद्यां प्रमादगलितामिव चिन्तयामि॥"

सुनहरी चम्पे की माला की भाँति गौर वर्णवाली, विकसित कमल जैसे मुखवाली, सूक्ष्म रोम-पंक्ति से युक्त, सो कर उठी हुई, काम-खेद से अलसाए हुए अंगवाली, अनवधानता से क्षीण हुई विद्या जैसी उस रमणी का आज भी मुझे स्मरण होता है।

इसी प्रकार सारे काव्य की रचना है।

मुक्तक और सूक्तियां

मुक्तक को हिन्दी में फुटकर कविता कहते हैं किन्तु इस में एक बात विचारणीय है। हिन्दी की फुटकर कविता में यह आवश्यक नहीं कि एक भाव को केवल एक ही पद्य में व्यक्त किया जाय—ज़रूरत पड़ने पर एक से अधिक पद्यों का भी कहीं कहीं उपयोग देखने में आता है। संस्कृत के मुक्तक में यह बात नहीं है। यहाँ तो अकेले ही पद्य में भावों को इस प्रकार कूट कूट कर भरना होता है कि एक सुन्दर सरस चित्र उतर आवे। उस के पद पद से लोकोत्तर चमत्कार टपकने लगे। कोई बात ऐसी न रह जाय जिस से चित्र की अपूर्णता प्रकट होती हो। काव्यनिर्माता को सैंकड़ों पद्य लिख कर जिन उत्कृष्टताओं की सृष्टि करनी होती है, वे ही सूक्ष्म रूप से मुक्तक में आने चाहिएँ। इस प्रकार की रचना करना किसी साधारण प्रतिभा का काम नहीं है, इस के लिए कवि को वश्यवाक् होना चाहिए। मध्यकालीन भारत में ऐसे ही कवियों ने जन्म ले कर संस्कृत काव्य के एक प्रधान अंग की पूर्ति की है। उन के मुक्तक-चित्रण साहित्य-समुद्र के सर्वाङ्ग-सुन्दर रत्न हैं, भाव-गाम्भीर्य और पर्यवेक्षणसम्पत्ति के अनुपम भाण्डार हैं। रसोद्रेक और ध्वन्यात्मक व्यङ्ग्य के इतने उत्कृष्ट उदाहरणों का एकत्र मिलना संस्कृत साहित्य के लिए कम गौरव की बात नहीं है।

भर्तृहरि

भर्तृहरि केवल साहित्यकर्मज्ञ ही न थे किन्तु व्याकरण और न्याय, वेदान्त आदि दर्शनों के भी धुरन्धर विद्वान् थे।

पातञ्जल महाभाष्य पर इन्हों ने "सार" नाम नाम की एक टीका लिखी है। इसी के विषय में प्रसिद्ध वैयाकरण कैयट अपने "प्रदीप" के आरम्भ में लिखते हैं—

"भाष्यांबुधिः क्वातिगम्भीरः क्वाहं मन्दमतिस्ततः,
छात्राणामुपहास्यत्वं यास्यामि पिशुनात्मनाम् ।
तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना,
क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तास्मि पंगुवत् ॥"

कहाँ महाभाष्यरूपी अत्यन्त अगाध समुद्र और कहाँ मेरी मन्द बुद्धि ! इसी से डरता हूँ कि परिवादशील छात्र मेरी खिल्ली उड़ाएंगे। किन्तु इस से क्या ? श्रीभर्तृहरिप्रणीत "सार" रूपी सेतु से लंगड़े की भाँति धीरे धीरे चलते रहने से आखिर इस महासागर से पार हो ही जाऊँगा। कैयट जैसे प्रखर विद्वान् जिन के प्रति इतनी आस्था रखते हैं उन के विद्यावैभव का स्वयं अनुमान किया जा सकता है। निःसन्देह भर्तृहरि अपने समय के अप्रतिम विद्वान् थे। यहाँ पर केवल इन के 'शतकों' का दिग्दर्शन कराया जाता है। इन्हों ने शृंगार, नीति और वैराग्य, ये तीन शतक लिखे हैं।

शृंगारशतक

इस में स्त्रियों के हावभावों, विविध विलासों, रूप-लावण्य आदि का मार्मिक वर्णन है। स्त्री की मोहिनी शक्ति के आगे महामना कृतविद्य लोग तक झूमने लग जाते हैं,

फिर साधारण मनुष्यों की तो कथा ही क्या ? भर्तृहरि ने स्वयं इस जादू के असर का अनुभव किया है, तभी तो कहते हैं—प्रिया की देदीप्यमान आँखों के विना यह जगत् मेरे लिए अन्धकारमय ही है। फिर फरमाते हैं—उस की सुध लेता हूँ तो हृदय दुःखी होने लगता है, वह सामने आती है तो मेरा वित्तोभ—मेरा पागलपन—और भी बढ़ जाता है, उस का स्पर्श करता हूँ तो सिर में चक्कर आने लगते हैं, ओह ! भला इस विलक्षण रमणी से भी प्रेम करने का कोई उपाय है ?

नीतिशतक

यह शतक व्यवहारिक उपदेशों से भरा पड़ा है। मनस्विता और महानुभावता, अध्यवसाय और सत्-संकल्प, पौरुषेय और स्वाभिमान, आदि उदात्त गुणों का उस में सुन्दर पाठ पढ़ाया गया है और क्षुद्रता, दैन्य, कार्पण्य आदि अवगुणों के प्रति घृणा दिलाई गई है। इन सूक्तियों में कितनी ही ऐसी हैं जिन के अंशविशेष अपनी सत्यता और ओजस्विता के कारण नित्य प्रति की बोलचाल में प्रयुक्त किए जाते हैं, जैसे—

"विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।"

सद्सद्विवेक से हीन मनुष्यों का अनेकशः अधःपतन होता है।

"क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्।"

भूषण क्षय को प्राप्त होते हैं किन्तु वाणीरूपी भूषण हमेशा मनुष्य की शोभा बढ़ाता है।

"न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ।"

महामना पुरुष अपने निश्चित उद्देश्य से कभी नहीं रुकते ।

"मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ।"

कर्तव्यपरायण धीर पुरुष सुख दुःख की कुछ परवा नहीं करते ।

"न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।"

कर्तव्यपथ से गम्भीर पुरुष एक पग भर भी विचलित नहीं होते ।

"अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेः ।
भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥"

विना विचारे सहसा किए हुए कर्मों का फल मरण-पर्यन्त शल्य के समान हृदय को पीड़ा देने वाला होता है । इत्यादि ।

एक किंवदन्ती है कि एक समय किसी ब्राह्मण से भर्तृहरि को बुढ़ापे को दूर करने वाला एक फल मिला। उस ने उस को स्वयं न खा कर अपनी स्त्री को, स्त्री ने अपने प्रेमी को, प्रेमी ने किसी अन्य प्रेमिका को, और उस ने अन्त में फिर राजा ही को दे दिया। इस पर राजा ने विरक्त हो कर अपने सहित कामदेव और उन सब को धिक्कार दिया—

"यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽप्यन्यसक्तः ।

अस्मत्कृते च तुष्यति च काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥"

समझ नहीं पड़ता इस श्लोक को नीति शतक में क्यों ठूंस दिया। सिवाय इसके, यहाँ और कोई श्लोक ऐसा नहीं है जिस से भर्तृहरि का मानसिक संक्षोभ या विरक्ति झलकती हो!

वैराग्यशतक

इस में विषयोपभोग की निःसारता से मन को हटाने का प्रयास किया गया है। इत्सिंग (Itsing) ने लिखा है कि भर्तृहरि ने सात वार संन्यास लिया और सात ही वार गृहस्थधर्म में प्रवेश किया। क्या सन्देह है कि निम्न-लिखित पद्य में इसी चलचित्तता पर संकेत किया गया हो—

"समारम्भा भग्नाः कति न कति वारांस्तव पशो।
पिपासोस्तुच्छेऽस्मिन्द्रविणमृगतृष्णार्णवजले॥
तथापि प्रत्याशा विरमति न तेऽद्यापि शतधा,
न दीर्णं यच्चेतो नियतमशनिग्रावघटितम्॥'

ऐ मूर्ख, कितनी वार तेरे प्रयत्न विफल हो गए हैं, द्रव्य रूपी तुच्छ मृगतृष्णा के जल के लिए कितनी वार तू प्यासा हो कर भटका फिरा है; तो भी अभी तक प्रत्याशा नहीं छूटती, हृदय फट कर सौ टुकड़े नहीं हो जाता: मालूम होता है तेरा हृदय वज्र का बना हुआ है। फिर कहते हैं—

"इह हि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोऽयं,
स्फुरति परिमलोऽयं स्पर्श एष स्तनानाम् ।
इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणः
स्वहितकरणधूर्तैः पञ्चभिर्वञ्चितोऽस्मि ॥"

रस, रूप, गन्ध. स्पर्श, शब्द, इन अपने अपने विषयों में आसक्त, परमार्थ की परिपन्थिनी, निज श्रेय की वञ्चक, पंचेन्द्रियों ने मुझे ठग लिया है । इस लोलुपता का परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए था—

"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ॥"

हम ने समझा था हम सुखोपभोग कर रहे हैं जब कि वस्तुतः हमारी शक्तियां क्षीण हो कर हमें श्मशान की ओर ले जा रही थीं, हम ने तप नहीं किया किन्तु पश्चात्ताप की अग्नि में स्वयं तपाए गए, समय नहीं नष्ट हुआ किन्तु उस के दुरुपयोग से हम स्वयं ही नष्ट हो गए, तृष्णा वृद्ध नहीं हुई हम स्वयं ही वृद्ध हो गए हैं ।

किन्तु एक महान् पुरुष का आत्मा सदैव शान्तिपूर्वक इन्द्रियों के दासत्व में नहीं रह सकता; महापुरुषों के जीवन-संघर्ष में आखिर आत्मा की ही विजय होती है। फिर तो बेचारा कामदेव भी झख मारता रह जाता है, रमणियों के रमणीय हावभाव सब व्यर्थ हो जाते हैं—

"रे कंदर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटंकारितैः
रे रे कोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि।
मुग्धे स्निग्धमुग्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलम्
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते ॥"

कामदेव जी महाराज, धनुष की टंकार से क्यों व्यर्थ अपने हाथ को क्लेश पहुँचाते हो? ऐ कोयल, तू क्यों निष्प्रयोजन ही कल कूजन कर रही है? और हे रमणि, तू भी अब अपने मधुर मनोहर चातुर्यपूर्ण चञ्चल कटाक्षों से बस कर। मेरा चित्त अब श्रीशिव जी के चरणों के ध्यानामृत में रम रहा है।

वैराग्यशतक संसार से खिन्न हुए, एक आध्यात्मिक प्रकृति वाले मनुष्य के द्वन्द्व-संघर्षों की हृदयंगम प्रतिच्छाया है। उपर्युक्त शब्दों और सजीव पदावली में जीवनयात्रा के निरभिमान पथिक की दशाविपर्ययों का यहाँ सुन्दर चित्रण किया गया है। कभी कभी भर्तृहरि को उनकी अश्लक्ष्ण और अपरिष्कृत शैली के लिए दोष दिया जाता है, किन्तु यहाँ शैली की अश्लक्ष्णता का भी जीवन के घटते हुए तूफानों, करुण क्रन्दन, हर्षनिर्भर उद्गारों, स्वाभिमान-पूर्ण अवमाननाओं, निष्फल उत्सुकताओं, उच्च अभिलाषों, प्रबल आक्षेपों, और आत्मचिन्तन-शील मस्तिष्क की उत्कट अन्तर्वेद-नाओं के साथ एक अपूर्व सामञ्जस्य हुआ है। वैराग्यशतक भर्तृहरि की उत्कृष्ट रचना है—'मोहमयी प्रमादमदिरा' से सचेत करने और आत्मचिन्तन की ओर प्रवृत्त करने का सुन्दर साधन है।

भर्तृहरि सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान थे।

शृङ्गारतिलक

शृङ्गारतिलक शृङ्गार रस का एक छोटा सा किन्तु मनोहर संग्रह है और कालिदास का बनाया हुआ बतलाया जाता है। इस में केवल २३ श्लोक हैं। कवि ने यहाँ अपनी कल्पनाशक्ति और उपमाओं के देने में मौलिकता का अच्छा परिचय दिया है।

अमरुशतक

अमरुशतक मुक्तक-कविता की सर्वोत्कृष्ट रचना है। अमरुक प्रेमियों को उन की प्रत्येक अवस्था–हर्ष और विषाद, रोष और अनुराग—में चित्रण करने की कला में नितान्त निपुण और सिद्धहस्त हैं। प्रेमच्छेद और पुनर्मिलन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के चित्रण में उस का कौशल बहुत बढ़ा हुआ है। यह एक अपूर्व बात है कि इतने संकुचित विषय को ले कर, इतने सदृश मनोभावों और अवस्थाविशेषों में भी, कवि ने किस असाधारण विचार-सूक्ष्मता और निरन्तर नए नए मार्मिक चित्रणों से सफलतापूर्वक सहृदयों के हृदयों को आवर्जित किया है। अमरुक आदि भारतीय कवियों ने जिस प्रेम का चित्रण किया है उस में प्रायः किसी उच्च आदर्श या अलौकिकता की कल्पना नहीं की गई है—वह प्रेम शहद के लोभी भौंरे का जैसा आसक्तिपूर्ण प्रेम है; तथापि अमरुक की रचना से भाव-स्निग्धता और विचार-सौष्ठव प्रकट होते हैं। इन की रचना पर मुग्ध हो कर आनन्दवर्धनाचार्य मुक्तक के सम्बन्ध में लिखते हुए कहते हैं—

"मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभि-
निवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा
ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररस-
स्यंदिनः प्रबंधायमानाः प्रसिद्धा एव।"

सचमुच अमरुक इसी प्रशंसा के योग्य हैं; रसाभिनिवेश और भावसौन्दर्य की दृष्टि से उन का एक एक मुक्तक स्वतन्त्र

काव्य की क्षमता रखता है। शृङ्गार रस के स्रोत को बहाने में उन्होंने निःसन्देह अपनी प्रतिभा की पराकाष्ठा को प्रदर्शित किया है। यहाँ पर उन के शतक से कुछ अवतरण दिए जाते हैं।

कोई नायिका चिर से मान किए बैठी है। उस की सखी उस से आ कर कहती है—

"अंगुल्यग्रनखेन वाष्पसलिलं विक्षिप्य विक्षिप्य किं
तूर्ष्णीं रोदिषि कोपने बहुतरं फूत्कृत्य रोदिष्यसि।
यस्यास्ते पिशुनोपदेशवचनैर्मानेऽतिभूमिं गते
निर्विण्णोऽनुनयं प्रति प्रियतमो मध्यस्थतामेष्यति॥"

हे क्रोधशीले, उंगलियों के अग्रभाग से आँसुओं को पोंछ पोंछ कर चुपके चुपके क्या रो रही है, अब खूब फूट फूट कर रोएगी; चुग़लखोरों की बातों में आ कर तू ने मान को इस सीमा तक पहुंचा दिया है कि प्रियतम ने अनुनय विनय करना तो छोड़ ही दिया, अब शीघ्र ही उदासीनभाव को धारण करने वाला है—विरक्त होने वाला है।

कोई नायिका परदेश जाने के लिए तय्यार हुए अपने प्रियतम से कहती है—

"लोलैर्लोचनवारिभिः सशपथैः पादप्रणामैः प्रियै-
रन्यास्ता विनिवारयन्ति कृपणाः प्राणेश्वरं प्रस्थितम्।
पुण्याहं व्रज मंगलं सुदिवसः प्रातः प्रयातस्य ते
यत्स्नेहोचितमीहितं प्रिय मया तन्निर्गतः श्रोष्यसि॥"

वे कृपण स्वभाववाली—छोटे दिल की स्त्रियां-और होती हैं जो रो कर, शपथ दिला कर, पैरों में पड़ कर, अनेक प्रकार की चाटुकारी कर के, प्राणेश्वर को परदेश जाने से रोकती हैं; हे प्रिय, आप प्रसन्नता से जाओ, प्रातः समय का यह शुभ मुहूर्त आप के प्रस्थान के लिए कल्याणकारी हो; मैं भी जिस स्नेहोचित कर्म को करनेवाली हूँ उस को आप बाहर जा कर किसी से सुन लेंगे--तुम दृष्टि से ओझल हुए और मैं ने भी इस तुच्छ शरीर को छोड़ा ! तुम जाते हो तो मैं किस के लिए जीऊँ !

ऐसे ही अवसर का एक और भी चित्रण देखने योग्य है-

"कान्ते कत्यपि वासराणि गमय त्वं मीलयित्वा दृशौ
स्वस्ति स्वस्ति निमीलयामि नयने यावन्न शून्या दिशः ।
आयाता वयमागमिष्यसि सुहृद्वर्गस्य भाग्योदयैः
संदेशो वद कस्तवाभिलाषस्तीर्थेषु तोयाञ्जलिः ॥"

प्रिये, कुछ दिन आंख मींच कर बिता लो। बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, जब तक दिशाएं सूनी नहीं होतीं--जब तक आप मेरी दृष्टि से दूर नहीं होते तब तक मैं आंख मींच लेती हूँ—मरती हूँ, विरहदुःख मुझ से न सहा जावेगा। बस मैं आने ही वाला हूँ, आओगे अपने सुहृद्वर्ग के पुण्योदय से; कहो तुम्हें कुछ कहना है ? हाँ, तीर्थों में मेरे लिए तर्पण दे आना।

किसी ने नायक से पूछा, आज तुम अनमने क्यों हो रहे हो ? कहा, क्या बताएं,—

"पश्यामो मयि किं प्रपद्यत इति स्थैर्यं मयालम्बितं
किं मां नालपतीत्ययं खलु शठः कोपस्तयाप्याश्रितः ।

इत्यन्योन्यविलक्षदृष्टिचतुरे तस्मिन्नवस्थान्तरे
सव्याजं हसितं मया धृतिहरो वाष्पस्तु मुक्तस्तया ॥"

देखें यह क्या करती है यह सोच कर मैं चुपचाप निश्चेष्ट हो कर बैठ गया; यह मुझ से बोलता क्यों नहीं यह वितर्क कर के उस ने धूर्त कोप का आश्रय लिया। इस सम्भ्रम में डालने वाली दशा में मैं कुछ कृत्रिम ढँग से हँस दिया, जिस से वह धैर्य को हरने वाले आंसुओं की वर्षा करने लगी—खेल ख़राब हो गया, हँसी हँसी में अनर्थ हो गया !

यह निश्चित है कि अमरुक आनन्दवर्धनाचार्य से पूर्व विद्यमान थे, अतएव उनका समय आठवीं शताब्दी से आगे नहीं हो सकता।

———

गीतगोविन्द

गीतगोविन्द् में जयदेव कवि ने कृष्ण की रसिकता और विलासिता को सुन्दर ललितपदावली में अभिव्यक्त किया है:—

"यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं श्रृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥"

यदि हरि-भजन में मन की आसक्ति हो और साथ ही स्त्रियों की चेतोहारिणी हाव भाव आदि विलासकलाओं के लिए भी तू उत्कण्ठित हो रहा हो—एक पंथ से चल कर अनायास ही दो उद्देशों को सिद्ध करने की अभिलाषा हो, तो जयदेव के इस मधुर कोमल और हृदयहारिणी पदावली से युक्त वाक् संदर्भ को सुनो।

कृष्ण गोपबधुओं के साथ अपना मनोविनोद कर रहे हैं—उन के प्रेम में इतने उन्मत्त हो रहे हैं कि प्राणप्रिया राधा की कुछ सुध ही नहीं ! इस चलचित्तता पर—इस अचिरप्रभोपम प्रेम पर, राधा बेचारी मन ही मन कुढ़ रही है, हृदय के बोझ को हलका करने के लिए आंसू गिराती है। इतने ही में एक गोपबाला आकर गाती है—

"ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते नृत्यति
युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ॥"

विरह से सताये गए हृदयों को उद्विग्न करने वाला वसन्त समय आया है, लौंग की मनोहर लताओं के सम्पर्क से स्निग्ध, सुगन्धित, मलयाचल का वायु बह रहा है, भौंरों के गुंजार और कोयल के कलकूजन से कुंजकुटीर प्रतिध्वनित हो रहे हैं। हे सखि राधे, ऐसे समय पर कृष्ण गोपयुवतियों के साथ खेल रहा है—रासलीला कर रहा है, तेरी कुछ ख़बर ही नहीं!

साधुस्वभाव और स्पष्टवादी नन्द राधा को आश्वासन देते हैं और उस को कृष्ण को ढूँढ़ने और प्रणय-कलह को दूर करने के लिए जाने की आज्ञा देते हैं।

गोपबाला प्रतिवचन में गाती है—

"चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगः स्मितशाली॥
हरिरिह मुग्धबधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे॥"

हे विलासिनी राधे, कृष्ण यहीं क्रीडाशील गोपरमणियों के साथ क्रीडा कर रहा है, उन का सांवला शरीर चन्दन के लेप से लिपा हुआ है, पीताम्बर पहिने हुए हैं और गले में वनमाला सुशोभित है, क्रीड़ा के कारण चलायमान मणिमय कुण्डलों से उन के गण्डस्थल समलंकृत हो रहे हैं—पूर्ण शृंगारी बने हैं, मुख पर उन के सुन्दर मधुर मुसकान है—इतने भूले हुए हैं, इतने तन्मय हो रहे हैं कि तुम्हारी कोई चिन्ता ही नहीं!

उतावली राधा चिन्तित हो कर वृन्दावन के सघन जङ्गलों में कृष्ण को ढूँढ़ने निकली है। वह इतनी घबराई हुई है

कि वन के सौन्दर्य और नदियों के मनोहर दृश्यों के आनन्द का अनुभव करना उस के लिए सम्भव नहीं।

वर्षा ऋतु बीत चली है। वह समय आया है जब पति-परायणा स्त्रियां बड़ी उत्सुकता से अपने प्रियतम की बाट देखती रहती हैं—व्यग्रता के साथ उन के शुभागमन की प्रतीक्षा करती हैं। किन्तु राधा क्या देखती है ? कृष्ण गोपियों के साथ विविध विलास और रङ्ग रास रच रहे हैं ! उस के चित्त में ग्लानि उत्पन्न होती है, परिखेद की अतिशयता के कारण वह अपने आप को नहीं सम्हाल सकती—बेसुध हो कर गिर पड़ती है। उस की सखी आ कर उस को आश्वासन देती है—कृष्ण तुम्हारे कारण दुःखी हैं, तुम से अपने अपराध की माफी चाहते हैं। राधा उस की बातों पर सहसा विश्वास नहीं कर सकती। वह समझती है, मुझे तो कृष्ण ने छोड़ रखा है, अन्यत्र सुख लूट रहे हैं, वे मेरे लिए दुःखी हो रहे हैं—यह कैसे ? इस तरह वह अपनी विचार-वीचियों में हिलोरें ले ही रही थी कि धीरे से कृष्ण भी आ पहुँचते हैं, विनीत भाव से अपने अपराधों की माफी चाहते हैं किन्तु ईर्ष्या से दृष्ट-हृदया राधा उन को वहाँ से चले जाने का निदेश करती है—आँखों से दूर होने का स्ट्रिक्ट आर्डर देती है। कृष्ण अनुनय विनय से काम लेना चाहते हैं किन्तु वह अवमानना के साथ वहाँ से चल देती है। कृष्ण पछताते ही रह जाते हैं।

आख़िर राधा को अपनी निर्घृणता पर पश्चात्ताप होता है, किन्तु अब उस से क्या ? कृष्ण वहाँ से चल दिए हैं। वह उन

के दर्शन के लिए उत्सुक होती है। उस का चित्त ठिकाने नहीं। आसपास के पक्षी जिस प्रकार प्रेम रस में उन्मत्त हो रहे हैं, वही हालत उस की भी है। प्रदोष काल आता है, राधा की बेचैनी और भी बढ़ जाती है। उस से यों चुपचाप बैठा नहीं जाता—कृष्ण की ढूँढ़ में बाहर निकलती है। वेतसी लताएँ तक झुक झुक कर उँगलियों से उस को मार्ग दिखा रही हैं। प्रेम दोनों को एक स्थान पर खींच लाता है--फिर से दो उमड़ी हुई प्रेम-सरिताएँ मिल कर एक धारा हो जाती हैं।

गीतगोविन्द आलंकारिक वर्णन माना जाता है। कृष्ण आत्मा के लिए आया है जो वार वार विषयोपभोग की ओर आकर्षित होता है। गोपियां विषय हैं और राधा ईश्वरीय प्रेम जो आत्मारूपी भूलेभटके पथिक को रास्ते पर लाता है। किन्तु कीथ का मत इस से बिल्कुल भिन्न है। वह इस को केवल काव्य-कला की एक उत्कृष्ट सृष्टि मानते हैं। प्रोफैसर मैक-डानल ने गीतगोविन्द की गणना गीति-नाटक में की है परन्तु यह भी समुचित नहीं प्रतीत होता। प्रथम तो गीति-काव्य और नाटक का संमिश्रण ही कुछ बेतुका सा लगता है। हृदय के बहुत से उद्गार ऐसे होते हैं जिन को नाटककार अपने नाटक में उपयुक्त स्थान नहीं दे सकता। मालतीमाधव के नवें अङ्क में माधव का विलाप, विक्रमोर्वशी के चौथे अङ्क में पुरुरवा का करुण क्रन्दन, इत्यादि उत्कृष्ट कविता है सही किन्तु उस का नाटकीय महत्त्व प्रायः कुछ भी नहीं। क्यों? इस लिए कि इन नाटककारों नें उन उन स्थलों पर गीति-काव्य में अनधिकार प्रवेश किया है, जिन भावों

को नहीं व्यक्त करना चाहिये था उन को व्यक्त किया। हृदय की अत्यन्त मार्मिक वेदनाओं और गूढ़ भावों को खोल कर समझाना नाटककार का काम नहीं--यह गीतिलेखक का विषय है, काव्य में ही अच्छा लगता है। प्रेम के रहस्य नाटक में शोभा नहीं पाते। ऐसे स्थलों पर नाटककार ध्वनि एवं संकेत से ही बात को प्रभावोत्पादक बना सकता है। अस्तु, जयदेव नाटक लिखने नहीं बैठा था। उसे तो हृत्तन्त्री को निनादित कर एक सुरीली तान निकालनी थी, अन्तर्हित भावों को मधुर कोमल-कान्त-पदावली में अभिव्यक्त करना था, हृदय के उमड़े हुए स्रोत से सरस्वती को बहा लाना था।

गीतगोविन्द में नाटक के कोई गुण नहीं। गीत ही उसके प्राण हैं, और ये कथोपकथन के विचार से नहीं लिखे गए हैं, प्रश्नोत्तर के रूप में नहीं हैं।

जयदेव काव्य-कला में सिद्धहस्त और गीति-काव्य के अनुपम कवि हैं। उन को स्वयं अपनी प्रतिभाशक्ति और वाग्विभव का विश्वास था—

"सन्दर्भशुद्धिं गिरां जानीते जयदेव एव।"

उन का यह स्वाभिमान कुछ झूठा नहीं है। जयदेव की सन्दर्भशुद्धि और वाक्सरणि सचमुच स्पृहणीय है। उन की रचना अत्यन्त परिष्कृत और अपने ढँग की एक ही है। शब्द-ध्वनि और मनोभावों का उस में अपूर्व अननुकरणीय संमिश्रण किया गया है। विविध भावों को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त छन्दों का बड़ा कौशलपूर्ण प्रयोग किया गया है।

जयदेव बङ्गदेशीय राजा लक्ष्मणसेन की राजसभा के पाँच रत्नों में से था। डाक्टर ब्यूह्लर ने सिद्ध किया है कि यह लक्ष्मणसेन बंगाल का वैद्यराज हो सकता है जिस का सन् ११६ ई० का एक शिलालेख मिलता है । अतएव जयदेव बारहवीं शताब्दीं के आरम्भ में विद्यमान था।

गद्यकाव्य

दण्डी

का

दशकुमारचरित

दण्डी की शैली और भाषा-सौष्ठव को देख कर स्वभावतः यह धारणा होती है कि इस विश्रुत लेखक से पहिले कितने ही गद्य लेखक हुए होंगे। परम्परा की प्रमादशीलता के कारण उन की रचनाएं हम तक नहीं पहुँच सकी हैं। सहसा दण्डी, सुबन्धु और बाण की निष्पन्न रचनाएं सामने आती हैं। विकास की किन किन अवस्थाओं से हो कर गद्य-काव्य इस सीमा तक पहुँचा है, यह कुछ देखने में नहीं आता।

दण्डी ने दशकुमारचरित और काव्यादर्श के अतिरिक्त एक और भी पुस्तक लिखी है, यह बात परम्परा से मालूम होती है। किन्तु यह तीसरी पुस्तक कौन थी इस का कुछ पता नहीं। दण्डी का समय भी अनिश्चित है। लेखनशैली और दशकुमारचरित में जो राजनैतिक विभागों का उल्लेख है उस से स्पष्ट है कि उन का समय सन् ६०० से अधिक अर्वाचीन नहीं हो सकता।

इन के जन्म-स्थान के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ मालूम नहीं। दशकुमार-चरित में उल्लिखित स्थानविशेषों के

वर्णन से जान पड़ता है कि वे सम्भवतः दक्षिण के रहने वाले थे।

बाण की गद्य-रचनाओं की भाँति दशकुमारचरित भी असमाप्त और विशृङ्खल है। कथासूत्र विछिन्न और उस की गूँथन शिथिल है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, दशकुमार-चरित में दश कुमारों की विक्रान्त चरितावली का वर्णन किया गया है। इन में से आठ का वर्णन मूल पुस्तक के आठ उच्छ्वासों में किया गया है। पूर्वपीठिका में दो और का वर्णन और मुख्य कथा का उल्लेख है। उत्तरपीठिका में विश्रुत का अवशिष्ट चरित्र दिया गया है। पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका भिन्न भिन्न रूपों में उपलब्ध हैं जिस से यह सिद्ध होता है कि इन में से कोई भी दण्डी की कृति नहीं। शैली का वैलक्षण्य इस बात की पूर्णतया पुष्टि करता है। आमुख में ही पाँचवां उच्छ्वास शेष चार उच्छ्वासों से इतना प्रशस्यतर है कि उस से उस के पृथक् कर्तृत्व की आशङ्का होती है। दण्डी की अपूर्ण उत्कृष्ट रचना को उसी की शैली में पूर्ण करने का प्रयास यहाँ स्पष्ट नज़र आता है।

मूलकथा इस प्रकार है। मगध का राजा मालवेश से हार कर विन्ध्याचल में आश्रय लेता है। वहाँ उस का राज-वाहन नाम का पुत्र उत्पन्न होता है। राजा के पास भद्रपुरुषों और विक्रमशील किन्तु भाग्यविहीन राजाओं और मन्त्रियों के एक एक कर के नौ और कुमार लाए जाते हैं। इन सब राजकुमारों का एक साथ ही लालन पालन होता है। उचित समय पर वे सब के

सब भाग्य-सम्पदा की खोज में बाहर निकलते हैं। मार्ग में उन को ब्राह्मणवेशधारी एक किरात मिलता है जो उन को यह विचित्र वृत्तान्त सुनाता है कि वह अपने सहचारियों की भाँति लुटेरा और घातक था। एक वार उस ने अपने साथियों से एक ब्राह्मण को प्राण-दान देने का आग्रह किया जिस से उन्होंने उस को पीटा और आखिर उस को मरा हुआ समझ कर छोड़ कर चल दिए। जब वह यमलोक में पहुँचता है तो उस को उस की दया के कारण प्राण-दान मिलता है और वहाँ की यन्त्रणाओं को देखने के बाद उस को फिर से मृत्यु-लोक में आने की अनुज्ञा मिलती है जिस से वह अपने पापों का प्रायश्चित्त कर सके। शिव की आराधना करने के पश्चात् उस को यह वर मिलता है कि अमुक गुफा के मुख पर एक ताम्रपत्र है, उस के अनुसार आचरण करोगे तो तुम को पाताल का राज्य मिलेगा। इस के लिए उस को एक राजकुमार की सहायता की आवश्यकता है। राजवाहन सहसा उस के साथ चल देता है। दोनों उस ताम्रपत्र के शासन को पढ़ कर अभि-चारक्रिया के द्वारा असुरराज की सौन्दर्य-सम्पन्न कुमारी की सहायता का आह्वान करते हैं और शीघ्र ही उस के साथ किरात का विवाह होता है। कृतज्ञ किरात राजकुमार को भूख प्यास और दुःख को शान्त करने वाली एक मणि देता है। इस मणि को ले कर राजवाहन वापिस आता है किन्तु इस बीच अन्य सब कुमार वहाँ से चल देते हैं। अन्त में सब कुमारों का मेल होता है और सब अपना अपना वृत्तान्त सुनाते हैं।

उन के वृत्तान्त विस्मयावह और विलक्षण हैं और तत्कालीन समाज की दूषित अवस्था को सूचित करते हैं। कल्पना-जगत् की इन घटनाओं से छल छिद्र, पाशविक प्रणय और अनाचार, द्यूतक्रीडा और विषयोपभोग, आदि के नग्न चित्र प्रदर्शित होते हैं।

दण्डी की शैली।

दण्डी की शैली साधारणतया सरल, स्निग्ध, धारावाहिनी, परिस्फुट और चित्ताकर्षक है। ऐसे पदसन्दर्भों को छोड़ कर जिन में किसी नायिका की रूपश्री का वर्णन किया गया हो, प्रायः दीर्घ समास, श्लेष अथवा क्लिष्ट पदावली का प्रयोग नहीं हुआ है। उन के पद सुष्ठु-प्रयुक्त और कहीं कहीं अत्यन्त मनोहर हैं। अनेक पदावलियां बहुत सारगर्भित और स्पृहणीय हैं। शब्दाभिधान के प्रयोग में ग्रन्थकार ने उच्च कोटि का कौशल और असाधारण पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। वस्तुतः यह देख कर आश्चर्य होता है कि सातवें उच्छ्वास में उन्हों ने ओष्ठ से उच्चारण किए जाने वाले अक्षरों का कहीं प्रयोग ही नहीं किया। अनुप्रास के वे अप्रतिम आचार्य हैं। उदाहरणार्थ, देखिये—

"कुमारा माराभिरामा रामाद्यपौरुषा रुषा भस्मीकृतारयो रयोपहसितसमीरणा रणाभियानेन यानेनाभ्युदयाशंसं राजानमाकार्षुः।"

कामदेव के समान सुन्दर, राम आदि वीर पुरुषों के समान पुरुषार्थी, क्रोधाग्नि से शत्रु को छार करने वाले राज-

कुमार वायु के वेग को भी मात करने वाले, युद्ध के लिए प्रस्तुत तीव्रगामी रथ पर चढ़ कर कल्याण की आशंसा करने वाले राजा के सन्मुख उपस्थित हुए।

कभी कभी उन की पदावली की कल क्वणन से हृदय मुग्ध हो जाता है—

विविधमण्डनमण्डलमण्डिता

सकललोकललनाकुलललामभूता इत्यादि

दण्डी के इस पदलालित्य ने अनेक संस्कृत-लेखकों के हृदयों को आकर्षित किया है। इसी लिए कहा है—

दण्डिनः पदलालित्यम्।

विलसन ने इस बात को दिखाया है कि दशकुमारचरित में अप्रचलित व्याकरण के रूपों का बाहुल्य है।

इतस्ततः घटनाओं की पुनरुक्ति से, चौथे उच्छ्वास के अन्त में सहसा पुष्पोद्भव के प्रवेश से और सब राजकुमारों के एक वार ही मिलाने से लेखक ने निर्माणशक्ति के अभाव को सूचित किया है। किन्तु उन की कल्पना-शक्ति निःसन्देह काफ़ी बढ़ी चढ़ी थी, यह बात उन के सूर्योदय और सूर्यास्त इत्यादि के सजीव वर्णनों से स्पष्ट ही है। उदाहरणार्थ—

"अथ तन्मनश्च्युततमःस्पर्शभियेवास्तं रविरगात्।"

मानो उस के मन से छूटे हुए अन्धकार के स्पर्श के भय से सूर्य अस्त हो गया।

"ऋषिमुक्तश्च रागः सन्ध्यात्वेनास्फुरत्।"

ऋषि का त्यागा हुआ राग संध्या की लालिमा के रूप में प्रकट हुआ।

"वैराग्याणीव कमलवनानि समकुचन् ।"

विरक्ति की भाँति कमलवन संकुचित हो गए।

"अशुष्यच्च ज्योतिष्मतः प्रभामयं सरः प्रासरच्च तिमिरमयः कर्दमः।"

सूर्य का प्रकाशरूपी सरोवर सूख गया और उस के स्थान में अन्धकाररूपी कीचड़ फैल गया।

"इति चिन्तयति मयि महार्णवोन्मग्नमारतण्डतुरंगमश्वासर-यावधूतेन व्यावर्तत त्रियामा। समुद्रवासजडीकृत इव मन्दप्रतापो दिवसकरः प्रादुरासीत् ।"

मेरे इस प्रकार सोचते हुए ही महासागर में उन्मग्न हुए सूर्य के घोड़ों के श्वास के वेग से रात्रि दूर हो गई और समुद्र में वास करने के कारण ठण्डा हुआ जैसा मन्द आतप-युक्त सूर्य निकल पड़ा।

भारत के विश्रुत लेखकों की दृष्टि में दण्डी का बड़ा आदर था। सरस्वती के मुख से निम्नलिखित शब्द कहलाए गए हैं-

"कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी नात्र संशयः ।"

निम्नलिखित पद्य कालिदास का बनाया हुआ बताया जाता है—

"जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत् ।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि ॥"

निःसन्देह वाल्मीकि और व्यास की भाँति दण्डी की काव्य-प्रतिभा भी स्वभावसिद्ध थी। अच्छे कवि के सभी लक्षण उन में विद्यमान थे। केवल यही एक बड़ा अवगुण है कि उन का शृङ्गार उचित सीमा को लांघ कर निःसंकोच अश्लीलता की ओर चल देता है। वात्सायन के कामसूत्रों से प्रभावान्वित होकर उन की सदसद्विवेचिनी शक्ति एक प्रकार से संकुचित हो गई।

अस्तु। इस में कोई सन्देह नहीं कि दण्डी काव्यशैली के एक बहुत बड़े आचार्य हैं। दशकुमारचरित जैसा जनप्रिय गद्य-काव्य संस्कृत साहित्य में और कोई नहीं है। वर्णना-शक्ति का अपूर्व सौष्ठव, प्रभावोत्पादक और स्वभावसुन्दर रूपक और उपमाएं, कष्टसाध्य कल्पनाओं का अभाव, सब इस में विद्यमान हैं।

सुबन्धु

की

वासवदत्ता

सुबन्धु बाण का पूर्वकालीन था, यह बात हर्षचरित से स्पष्ट ही है। हर्षचरित की भूमिका के ग्यारहवें श्लोक में बाण लिखते हैं—

"कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया ।

शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम् ॥"

जिस तरह इन्द्र की शक्ति कर्ण को उपलब्ध होने से पाण्डवों का प्रताप घट गया, वैसे ही वासवदत्ता से कवियों का अभिमान जाता रहा।

कादम्बरी की भूमिका में बाण ने लिखा है—

"इयमतिद्वयी कथा"—

अर्थात् यह कादम्बरी की कथा '*बृहत्कथा*' और '*वासवदत्ता*' को मात करने वाली है।

वासवदत्ता में एक उल्लेख आया है जिस से उस के रचना-काल पर कुछ प्रकाश पड़ता है,—

"न्यायस्थितिमिवोद्द्योतकरस्वरूपाम् ।"

उद्द्योतकर ने अपने न्यायवार्त्तिक को बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग, जो सन ५०० के लगभग विद्यमान था, के सिद्धान्तों

का निराकरण करने के लिए लिखा। अतएव स्पष्ट है कि सुबन्धु छठी शताब्दी के उत्तरार्ध से पूर्ववर्ती नहीं हो सकता।

वासवदत्ता की कथा संक्षेप से इस प्रकार है। चिन्तामणि नामी एक राजा का कन्दर्पकेतु नाम का एक पुत्र था जो अपने पिता के समान सब सद्गुणों से युक्त था। एक दिन सवेरे के समय, जब सच्चे स्वप्न आया करते हैं, राजकुमार ने अठारह वर्ष की एक युवती को स्वप्न में देखा जो सुन्दरता में अद्वितीय थी। ईर्ष्याशालिनी निद्रा कन्दर्पकेतु को छोड़ती है और वह अपने सखा मकरन्द के साथ उस अज्ञात राजकुमारी की ढूँढ़ में बाहर निकलता है। भटकते फिरते दोनों विन्ध्य-पर्वत पर पहुँचते हैं और वहां रात्रि के समय विनिद्र राजकुमार दो पक्षियों के आलाप को सुनता है जो उस वृक्ष पर वसेरा ले रहे थे जिस के नीचे वह लेटा हुआ था। कन्दर्पकेतु नर-पक्षी की कथा से जिसे वह अपनी संशयशील पत्नी से अपनी देरी का समाधान करने के लिए कह रहा था, सुनता है और उस को सुन कर अपने आप को कृतकृत्य समझता है। मैना पक्षी ने कहा कि गङ्गा नदी के तट पर पाटलीपुत्र नगर में श्रृंगारशेखर नाम का एक प्रतापी राजा राज्य करता था जिस की वासवदत्ता नाम की इकलौती पुत्री थी। वसन्त ऋतु में उस राजकुमारी ने भी स्वप्न में एक असाधारण रूपलावण्य-सम्पन्न राजकुमार को देखा जिस का नाम कन्दर्पकेतु था। इस अवसर पर उस की सहेली तमालिका कन्दर्पकेतु को ढूँढ़ने और उस के पास वासवदत्ता का सन्देश ले जाने के लिए प्रस्तुत होती है। शीघ्र पाटलीपुत्र में

इन प्रेमियों का संमिलन होता है, जहाँ कन्दर्पकेतु को यह समाचार मिलता है कि राजा ने अपनी पुत्री की अविवाहित अवस्था से खिन्न होकर यह निश्चय किया है कि दूसरे दिन विद्याधर राजकुमार पुष्पकेतु के साथ उस का विवाह होगा। इस लिए कन्दर्पकेतु और वासवदत्ता तत्क्षण ही एक जादू के घोड़े पर विन्ध्याचल में पहुँचते हैं किन्तु प्रातः काल जब राजकुमार नींद से उठता है तो उस को वहाँ लताभवन में वासवदत्ता दिखाई नहीं देती। शोक से विह्वल हो कर वह आत्मघात करना ही चाहता है कि इतने में आकाशवाणी होती है जो उसे वासवदत्ता के पुनर्मिलन का वचन देती है। कई महीनों के क्लेशकारी अन्वेषण और प्रतीक्षा के वाद वह देखता है कि वासवदत्ता शिला के रूप में परिवर्तित हो गई है। उस के स्पर्श से वह पाषाण-प्रतिमा फिर जी उठती है। वासवदत्ता उस से कहती है कि उस के अपहरण के लिए दो सेनाएं आपस में लड़ कर विनष्ट हो गईं जब कि वह विना सोचे समझे एक आश्रम में प्रविष्ट हुई, जहाँ ऋषि ने उस को यह अभिशाप दिया कि जब तक तुम्हारा प्रेमी नहीं आता, शिला बन कर रहो। इस प्रकार उन के दुःखों का अन्त होता है और वे कन्दर्पकेतु की राजधानी को वापिस जाते हैं, जहाँ उन के जीवन के शेष दिन सुख में बीतते हैं।

सुबन्धु की शैली

सुबन्धु ने इस कथा में सर्वत्र गौड़ी रीति का अनुसरण किया है। साहित्यदर्पणकार ने गौड़ी रीति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्धाडम्बरः पुनः ।
समासबहुला गौडी ॥"

ओजस्विता के अभिव्यञ्जक वर्णों के द्वारा शब्दों का जो विन्यासाडम्बर होता है और जिस में समासों का प्राचुर्य होता है उसे गौड़ी रीति कहते हैं। वामन ने ओज और कान्ति इस रीति की विशेषताएं बताई हैं और उस में माधुर्य और सौकुमार्य को स्थान नहीं दिया। काव्यादर्श के अनुसार इस में अनुप्रास, अतिशयोक्ति आदि होने चाहिएं और कथा, आख्यायिका और सब प्रकार के आख्यानों में काव्य की भाँति युद्धों, नगरों, समुद्रों, पर्वतों, ऋतुओं, सूर्योदय आदि का वर्णन होना चाहिए। सुबन्धु की वासवदत्ता में इन सब बातों का पूर्णरूप से निर्वाह हुआ है।

कथा के सुकुमार सूत्र को साहित्यिक अलङ्करण के अनेक रूपों से समलंकृत किया गया है। इन में सब से प्रधान श्लेष है जिस के कारण सुबन्धु की रचना अत्यन्त क्लिष्ट हो गई है। वह स्वयं अपने लिए कहता है—

"प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिः ॥"

कादम्बरी की तरह वासवदत्ता में भी चरित्रचित्रण की उपेक्षा कर के वर्णना को प्राधान्य दिया गया है।

———

बाणभट्ट

की

कादम्बरी

बाणभट्ट उत्तरीय भारत के सम्राट् हर्ष का आश्रित था। हर्ष ने सन् ६०६ ई० से ६४८ ई० तक राज्य किया, अतएव बाण छठी शताब्दी के अन्त और सातवीं के आरम्भ में विद्यमान थे। ये वात्स्यायन वंश में पैदा हुए थे और इन के पूर्वज सोन नदी के किनारे प्रीतिकूट गाँव में रहते थे।

कादम्बरी और हर्षचरित बाण की दो प्रधान कृतियां हैं। हर्षचरित का सविस्तर उल्लेख ऐतिहासिक काव्यों में किया जावेगा। कादम्बरी की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—राजा शूद्रक की सभा में एक चाण्डाल कन्या एक तोते को लेकर आती है। तोता राजा को अपनी दुःखभरी कहानी सुनाता है। बाण की भाँति उस का भी लालन पालन उस के ही पिता से हुआ था जो निर्दयता से मारा गया। पिता के वात्सल्य से जीवित रह कर उस को महर्षि जाबालि से सान्त्वना मिलती है जिस के सुदीर्घ वृत्तान्त को शुक राजा से कहता है। उज्जयिनी के तारापीड की एक स्त्री थी, जिस का नाम विलासवती था। उस के मन्त्री का नाम शुकनास था। शिव के प्रसाद से राजदम्पती का चन्द्रापीड नाम का पुत्र और शुकनास का वैशम्पायन उत्पन्न होता है। दोनों कुमारों का साथ साथ लालन पालन और शिक्षा दीक्षा

होती है। सोलह वर्ष की अवस्था में वे विद्यापीठ से राजप्रासाद में पहुँचते हैं। चन्द्रापीड को इन्द्रायुध नाम का एक विचित्र घोड़ा और पत्रलेखा नाम की एक छन्दानुवर्तिनी परिचारिका दी जाती है जो एक ऐसे राजा की लड़की थी जिस को तारापीड ने कैद किया था और जो राजमहिषी के आश्रय में पली थी। कुछ दिन के बाद शुकनास से नीति का उपदेश ग्रहण कर के चन्द्रापीड दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता है और तीन वर्ष में सारे संसार के राजाओं को जीत कर हेमकूट में किरात के दुर्ग पर आधिपत्य कर लेता है। एक दिन दो किन्नरों का पीछा करते हुए वह अपने साथियों को छोड़ कर आगे बढ़ता है। आख़िर दूर निकलने पर एक सरोवर के किनारे उसे महाश्वेता नाम की एक युवती तपस्या करते हुए दिखाई देती है। उस के मुख से वह उस की करुणापूर्ण कथा को सुनता है कि किस तरह वह एक दिन पुण्डरीक नाम के एक युवक से मिली किन्तु अभाग्यवश पारस्परिक प्रेम का पूर्णतया उद्बोधन भी न होने पाया था कि उस युवक की मृत्यु हो गई। वह उस की चित्ता में भस्मसात् होना चाहती थी किन्तु एक दिव्य प्राणी उस के शरीर को ले कर अन्तर्हित हो गया और उस को उस के पुनर्मिलन का वचन दे गया। इस युवती की सखी कादम्बरी से चन्द्रापीड का प्रेम होता है किन्तु सहसा उसे उज्जयिनी को लौटना पड़ता है। पत्रलेखा कादम्बरी का प्रणय-सन्देश ले कर आती है। यहीं पर बाण की रचना समाप्त हो जाती है।

इस कथा को बाण के पुत्र ने उत्तर भाग में समाप्त किया है। चन्द्रापीड फिर अपनी प्रियतमा को ढूँढ़ने के लिए

जाना चाहता है किन्तु अभाग्यवश वह पहिले वैशम्पायन की खोज में निकलता है, जो महाश्वेता के रहने के सरोवर के किनारे पर रुकने के कारण अन्तर्हित हो जाता है। इस अशुभ समाचार को ले कर जब वह वापिस आता है तो राजा उस को उलाहना देता है। चन्द्रापीड फिर से अपने साथी की खोज में जाता है। महाश्वेता उस को बतलाती है कि वैशम्पायन ने उस से प्रेम के लिए आग्रह किया परन्तु वह पहिले ही पुण्डरीक को अपना प्रेम दे चुकी थी। इस लिए उस ने वैशम्पायन को शाप दिया कि तू तोता हो जा जिस से वह उसी क्षण मर गया। इस बात को सुन कर चन्द्रापीड मूर्छित हो जाता है, सहसा धराशायी हो कर मृतप्राय बन जाता है। इसी अवसर पर कादम्बरी भी वहाँ पहुँचती और महाश्वेता के साथ करुण क्रन्दन करने लगती है। आकाशवाणी उन को सान्त्वना देती है, महाश्वेता को यह वचन देती है कि पुण्डरीक से तुम्हारा पुनर्मिलन होगा और चन्द्रापीड के शरीर को सुरक्षित रखने का आदेश करती है। पत्रलेखा और इन्द्रायुध उस सरोवर में प्रवेश करते हैं और वहाँ से पुण्डरीक का सखा कपिञ्जल निकल आता है जो उन कुमारियों पर सब रहस्य प्रकट करता है। चन्द्रापीड चन्द्रमा की शरीरिणी मूर्ति था, वैशम्पायन पुण्डरीक और इन्द्रायुध कपिञ्जल था। चन्द्रापीड के शरीर को अक्षत रखा जाता है और तारापीड और उस की रानी उस के पास आ कर रहने लगते हैं। अब तोता अपने ही शब्दों में अपना वृत्तान्त सुनाता है, क्योंकि जाबालि के आख्यान

से वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है कि वह पुण्डरीकवैशम्पायन है। वह चन्द्रापीड को ढूँढ़ने का निश्चय करता है किन्तु मार्ग में एक चाण्डाल से पकड़ा जाता है जो उसे उस की रानी को देता है। यह वही चाण्डाल कन्या है जो उसे शूद्रक के पास लाती है। राजा से पूछे जाने पर वह राजा से कहती है कि तुम ही चन्द्रापीड हो और स्वयं अन्तर्धान हो जाती है। राजा की मृत्यु होती है और उसी समय चन्द्रापीड जी उठता है। पुण्डरीक वहाँ उपस्थित होता है। विवाहोत्सव मनाया जाता है और उज्जयिनी और हेमकूट के आनन्द के दिन फिर आते हैं।

बाण ने कथावस्तु की स्वयं कल्पना नहीं की किन्तु बृहत्कथा से ले कर उस को समलंकृत और पल्लवित किया है।

बाण की शैली

आख्यायिका-लेखन—

बाण संस्कृत कविता के उन विश्रुत मध्यकालीन लेखकों में से है जिन्हों ने इस आधुनिक अभिमत सिद्धान्त का पोषण कर के कला की काया पलट की है कि पद्यबन्ध बाह्य अलङ्करण मात्र है, वास्तविक कविता गद्य और पद्य दोनों ही में लिखी जा सकती है। अपनी गद्य-रचना में उस ने दण्डी के निम्न-लिखित विधान का अनन्य-निष्ठता के साथ अनुसरण किया है-

"ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।"

जिन्हें बाण की कादम्बरी पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे जानते हैं कि उस की बाणी में ओजःप्राणता किस तरह

कूट कूट कर भरी हुई है। उस के पदों में जो रागपरिवाहिनी ध्वनि है उसे एक प्रकार की नवीन छन्दोरचना कहें तो अनुचित न होगा। इस के लिए उन्हें कभी कभी स्पष्टवादिता की भी उपेक्षा करनी पड़ी है। उस की रचनाओं में हमें कार्यप्रवाह बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। एक अत्यन्त कृश कथा-सूत्र में दृश्यों की गूँथन की गई है जो विस्तृत वर्णनाओं और प्रायः श्लेषपूर्ण उपमाओं के निमित्तीभूत हैं। श्लेषगर्भ पदों की खूब भरमार की गई है और संस्कृत शब्द-भाण्डार पर अपना आश्चर्यावह आधिपत्य अभिव्यक्त करने में ग्रन्थकार ने कोई कसर नहीं रखी। उस की कल्पना-शक्ति की गति अति तीव्र और उदात्त है। विचार-स्रोत निरन्तर बहा चला जाता है। उपमा के बाद उपमा सामने आती है। आखिर इस रमणीयता का आयाम इतना बढ़ जाता है कि शहद में फंसी हुई मधुमक्खी की भाँति प्रधान विचार कल्पना के अगाध समुद्र में अन्तर्हित हो जाता है।

बाण की शैली हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को अधिक आवार्जित करती है। उस के किसी चमत्कृत श्लेष पर हम मुसकरा देते हैं, भिन्न भिन्न अलङ्कार, जो उस की पदावली की शोभा बढ़ाते हैं, हमारे चित्त को आकर्षित करते हैं किन्तु उस के शब्दों की क्षमता को हमारा हृदय अनुभव नहीं कर सकता—उन से वह रसास्वाद नहीं ले सकता। कालिदास और भवभूति की कविता की भाँति हम उसकी रचना का आस्वाद नहीं ले सकते। वस्तुतः उस को समझने से पहिले हमें बड़े प्रयत्न से रचना-विन्यास की गूथन को सुलझाना होता है। बाण की शैली में यही

एक दोष है जिस के कारण आधुनिक विद्वानों ने उस की तीव्र समालोचना की है। प्रोफैसर वेबर की दृष्टि में बाण की रचना दशकुमारचरित की अपेक्षा अवर है। कारण, शब्दों में साभिप्रायता की इतनी खींचातानी की गई है और फिर फिर कर इतना पिष्टपेषण किया गया है कि उस से स्वभावतः चित्त ऊब उठता है, शब्दाडम्बर में कथा आगे बढ़ते बढ़ते रह जाती है। कहानी शुरू होती है कि इतने ही में कवि को अनेक आनुषङ्गिक बातों का स्मरण हो आता है, पढ़ने वाला अधीर हो उठता है। इन्हीं प्रोफैसर महोदय ने बाण के गद्य की भारतीय वन से तुलना की है जिस में आगे बढ़ना असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुष्कर अवश्य हो जाता है।

किन्तु बाण जैसे महामना लेखक की शैली की एकमात्र न्यूनता का यह चित्र अतिरञ्जना से दूषित है। भारतीय पण्डित-समाज उस की रचना पर हृदय से मुग्ध है। उस की दृष्टि में यह रचना सर्वथा निर्दोष है। धर्मदास अपने विदग्धमुख-मण्डन में लिखता है—

"रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
तत्किं तरुणी न हि न हि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य॥"

मधुरशील बाण की कोमल कान्त पदावली से युक्त, रस और भावभरी वाणी सहृदयों के हृदयों को मुग्ध कर देती है। इतना ही नहीं, साहित्यमर्मज्ञों ने तो यहाँ तक कह डाला कि-*"बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्"* जो कुछ वाणी-वैचित्र्य जगत् में

दीखता है वह सब बाण की जूँठन है; काव्य-जगत् की कोई सौष्ठव-सामग्री ऐसी नहीं जिस का उस ने उपयोग न किया हो। गोवर्धनाचार्य ने जिन शब्दों में उस की शैली के उत्कर्ष को वर्णन किया है वे भी विचारणीय हैं—

"जाता शिखण्डिनी प्राक् यथा शिखण्डी तथावगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति ॥"

स्वयं वाणी ने, प्रौढ़ता प्राप्त करने के उद्देश से, बाण के स्वरूप में पुरुषावतार लिया है। इसी प्रकार अनेक साहित्य कोविदों ने मुक्त कण्ठ से उस की प्रशंसा की है।

अस्तु। इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि ओजस्विता में बाण ने अपना कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखा। उस की कवित्वशक्ति स्थल स्थल पर सुचारुतया परिस्फुट हुई है। उस का शृङ्गार हेय नहीं कहा जा सकता। जिस भाव अथवा वस्तु को वर्णन किया है सस को सीमा तक पहुँचा कर ही छोड़ा है।

अन्त में इस सम्बन्ध में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कुछ भावों को उद्धृत कर देना समुचित जान पड़ता है। "हम जिस समय में पैदा हुए हैं, वह बहुत ही व्यस्तता का समय है। इस समय सब बातों का सब कुछ कहने का प्रलोभन पग पग पर रोकना पड़ता है। कादम्बरी-रचना-काल में कवि ने कथा-विस्तार के विचित्र कौशल का आश्रय लिया था, और इस समय हमें कथा-संक्षेप के सभी कौशल सीखने पड़ते हैं। उन दिनों में मनोरञ्जन के लिए जिस विद्या का प्रयोजन था, इन

दिनों के मनोरञ्जन के लिए ठीक उस से उल्टी विद्या की आवश्यकता है।

"किन्तु एक काल का मधुलोभी यदि अन्य काल से मधु-संग्रह की इच्छा करे, तो वह अपने काल के प्रांगण में बैठे बैठे उसे नहीं पा सकेगा—उसे अन्य काल में प्रवेश करना होगा। जो लोग कादम्बरी के आनंद का उपभोग करना चाहते हैं, उन्हें यह भूल जाना होगा कि दफ्तर जाने का समय हो गया, उन्हें ख़याल करना होगा कि वह कोई काव्य-रस-विलासी राज्येश्वर हैं, राजसभा में बैठे हैं, और *समानवयोविद्यालंकारैः अखिलकलाकलापालोचनकठोरमतिभिः अतिप्रगल्भैः अग्राम्यपरिहासकुशलैः काव्यनाटकाख्यानाख्यायिका-लेख्यव्याख्यानादिक्रियानिपुणैः विनयव्यवहारिभिः आत्मनः प्रति-बिम्बैरिव राजपुत्रैः सह रममाणः*—हैं।...मनुष्य और संसार के विशेषत्व के प्रति उस ज़माने की अपेक्षाकृत उदासीनता रहने के कारण भाषा की वर्णना ने सर्वत्र मनुष्य और घटना को ढक कर अपना रस फैलाया है—रङ्ग दिखाया है। इस बात को स्मरण रख कर, आधुनिक समय की विशेषता को भूल कर, कादम्बरी के रसास्वादन में प्रवृत्त होने पर आनन्द की सीमा नहीं रहेगी।

सभी जानते हैं, भाव सत्य की तरह कृपण नहीं है। सत्य के निकट जो बालक अन्धा है, भाव के निकट उस का कमल-नयन होना कुछ भी विचित्र नहीं। भाव की उस राज-

कीय अजस्रता या उदारता के उपयोगी भाषा संस्कृत भाषा ही है। वही स्वभाव-विपुल भाषा कादम्बरी में पूर्ण वर्षा की नदी की तरह आवर्त, तरंग, गर्जना और प्रकाशच्छटा से विचित्र हो उठी है।

"किन्तु कादम्बरी का विशेष माहात्म्य यह है कि भाषा और भाव के विशाल विस्तार की रक्षा कर के भी उस के चित्र सजीव हो उठे हैं। सब प्लावित हो कर एकाकार नहीं हो गया।"

* BIBLIOGRAPHY.

1. A. A. MACDONELL: History of Sanskrit Literature.
2. A. B. KEITH: Classical Sanskrit.
3. A. B. KEITH: Sanskrit Drama.
4. HORRWITZ: Hindu Theatre.
5. H. G. RAWLINSON: Indian Historical Studies.
6. S. K. BELVALKAR: An article on the origin of Indian Drama in the Calcutta Review, November, 1921.
7. L. SARUP: Vision of Vasavadatta.
8. T. GANPATI SHASTRI: Svapnavasavadatta.
9. S. V. SUKTHANKAR: Articles on Bhasa in J. A. O. S. 1921—22.
10. RHYDER: Little Clay Cart.
11. RAMAKRISHNA KAVI: Kundamala of Dingnaga.
12. S. K. DE: Chaturbhani, J. R. A. S. 1925.
13. M. WINTERNITZ: Calcutta University Lectures.
14. HOPKINS: Great Epic of India.
15. C. V. VAIDYA: Mahabharata—a criticism.
16. A. B. KEITH: Date of Ramayana, J. R. A. S. 1915.
17. COWELL: Buddhacharita.
18. PADMA SINGH: Satasai of Vihari.
19. PETERSON: Kadambari.
20. GRAY: Vasavadatta.

* इस पुस्तक के तय्यार करने में हम को जिन ग्रन्थों से विशेष सहायता मिली है उन के नाम यहाँ दिए गए हैं।

दयानन्द महाविद्यालय संस्कृत-ग्रन्थमाला ।

* प्रकाशित ग्रन्थ *

१—अथर्ववेदीया पञ्चपटलिका १॥)
२—ऋग्वेद पर व्याख्यान १।)
३—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २॥)
४—दन्त्योष्ठविधिः ॥)
५—अथर्ववेदीया माण्डूकीशिक्षा १)
६—अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका ४)
७—रामायण, अयोध्या काण्ड, ४ अंक ६)
(North-Western recension.)
८—वैदिक कोष (प्रथम भाग) १२)
९—काठकगृह्यसूत्र ७)
१०—संस्कृत साहित्य का इतिहास ३)

यन्त्रस्थ ग्रन्थ

१—रामायण अयोध्याकाण्ड, Fasc. V.
२—चारायणीयशाखामन्त्रार्षाध्यायः । सम्पादक भगवद्दत्त
३—ऋग्वेदभाष्यम् उद्गीथाचार्यप्रणीतम् ऋ० ११।५-१०।८३॥
सम्पादक भगवद्दत्त ।
४—श्रयंकम्-(अमृतसरःकाव्यम्)

SUPDT. RESEARCH DEPARTMENT,
D. A.-V. College, Lahore.